स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

147

MAST-01

वैदिक वाङ्मय

उ०प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

प्रथम खण्ड

वैदिक सूक्त (भाग- 1)

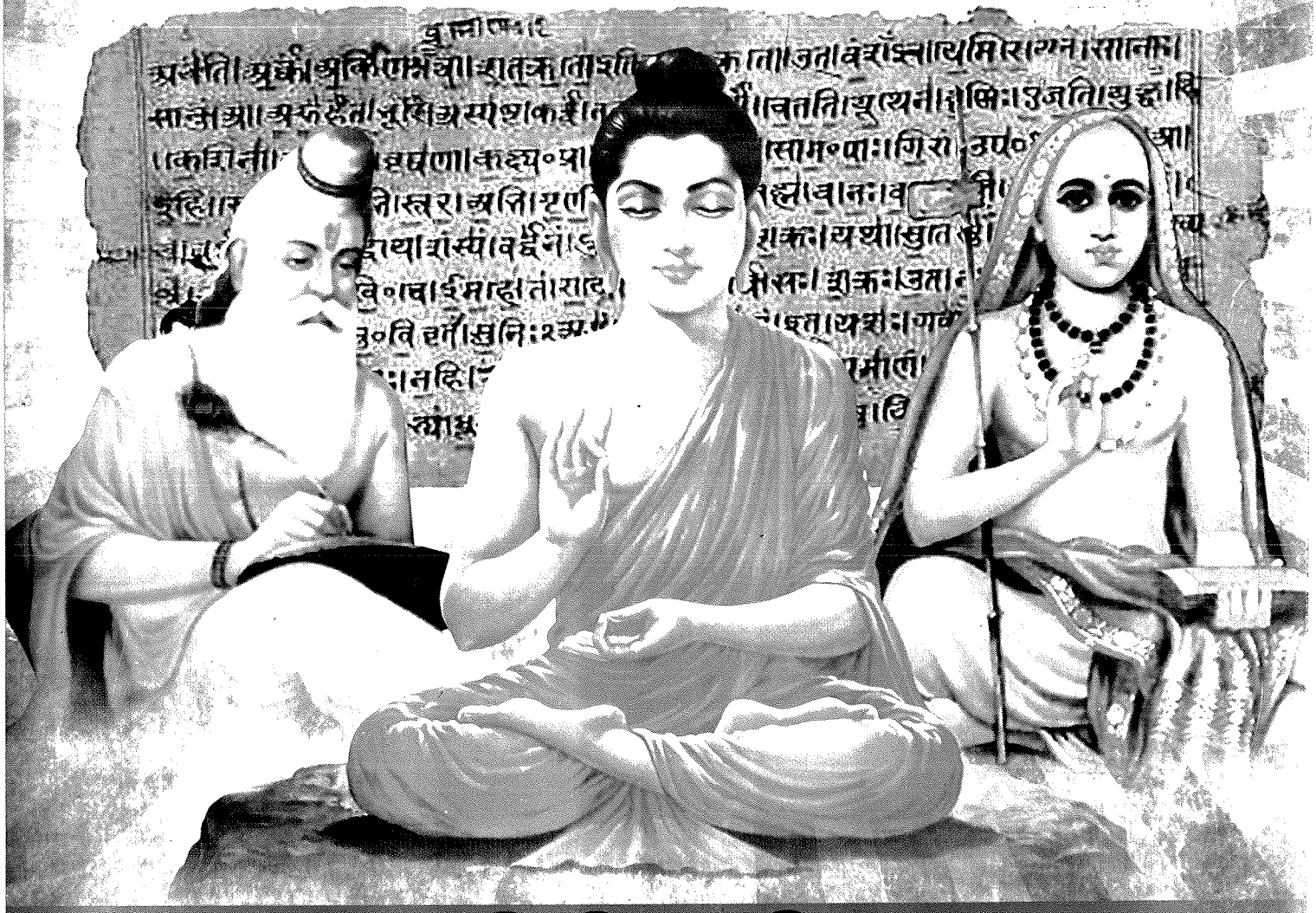

विश्वविद्यालय परिसर
शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद-211013

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

खण्ड

1

वैदिक सूक्त (भाग-1)

इकाई-1 5
ऋग्वेद का सामान्य परिचय

इकाई-2 18
देवता परिचय

इकाई-3 29
वैदिक व्याकरण

खण्ड-एक :- वैदिक सूक्त

प्रथम खण्ड के दो भाग हैं। इनमें छह इकाईयाँ हैं। प्रथम इकाई में ऋग्वेद का सामान्य परिचय, द्वितीय इकाई में देवताओं का सामान्य परिचय तथा तृतीय इकाई में वैदिक व्याकरण का विवेचन है। चतुर्थ इकाई में इन्द्र, सवितृ तथा मरुत सूक्त का वर्णन किया गया है। पञ्चम इकाई में विश्वामित्र नदी संवाद, अग्नि सूक्त तथा अक्ष सूक्तों की व्याख्या की गई हैं। इकाई छह में अथर्ववेदीय सूक्त राष्ट्राभिवर्धनम् तथा पृथिवी सूक्त का वर्णन है।

पाठ्यक्रम परिचय

इस पाठ्यक्रम में दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड को दो भागों में बाँटा गया है।इस खण्ड के भाग एक में तीन इकाई हैं। प्रथम इकाई में ऋग्वेद का सामान्य परिचय दिया गया है। द्वितीय इकाई में देवताओं का परिचय है तथा तृतीय इकाई में वैदिक व्याकरण के विषय में बताया गया है। प्रथम खण्ड के भाग दो में भी तीन इकाई हैं चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ। चतुर्थ इकाई में इन्द्र, सवितृ तथा मरुत् सूक्त का वर्णन किया गया है। पञ्चम इकाई में विश्वामित्र नदी संवाद, अग्नि सूक्त तथा अक्ष सूक्त के विषय में बताया गया है। षष्ठ इकाई में अथर्ववेदीय सूक्त राष्ट्राभिवर्धन तथा पृथिवी सूक्त का वर्णन किया गया है।

द्वितीय खण्ड में पाँच इकाई हैं। प्रथम इकाई में निरुक्त, केनोपनिषद् एव वैदिक वाङ्मय का सामान्य अध्ययन है। द्वितीय इकाई में निरुक्त प्रथम अध्याय 1-5 पाद तक की व्याख्या दी गयी है। तृतीय इकाई में केनोपनिषद् की व्याख्या एवं बोध प्रश्न दिया गया है। संहिताओं चतुर्थ एवं पञ्चम इकाई में वैदिक साहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है।

इकाई- १ : ऋग्वेद का सामान्य परिचय

इकाई की रूपरेखा

१.० उद्देश्य

१.१ वेद

१.२ चार वेद

१.३ चार ऋत्विक्

१.४ वेदत्रयी

१.५ वेद के विभाग

- १.५.१ संहिता
- १.५.२ ब्राह्मण
- १.५.३ आरण्यक
- १.५.४ उपनिषद्

१.६ संहिता ग्रन्थ

- १.६.१ ऋग्वेद संहिता का महत्त्व
- १.६.२ वेदों की शाखाएँ
- १.६.३ ऋग्वेद की शाखाओं का विवरण

१.७ ऋग्वेद का रचना काल

१.८ ऋग्वेद संहिता

- १.८.१ ऋग्वेद का विभाजन
- १.८.२ ऋग्वेद के प्रतिपाद्य विषय
- १.८.३ ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रंथ
- १.८.४ ऋग्वेद के आरण्यक ग्रन्थ
- १.८.५ ऋग्वेदीय उपनिषद्

१.९ सम्बन्धित प्रश्न

(१) इकाई प्रथम

१० उद्देश्य

इस यूनिट में ऋग्वेद के सामान्य परिचय से अवगत कराया जायेगा।

१.१ वेद

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मणात्मक शब्दराशि को वेद कहा जाता है। 'मनतात् मन्त्राः' के अनुसार जिनके द्वारा यज्ञ-यागों का अनुष्ठान निष्पन्न होता है तथा जिनमें उल्लिखित देवताओं की स्तुति का विधान किया जाता है, उन्हें मन्त्र नाम से अभिहित किया जाता है। मन्त्र का सङ्कलन संहिताओं में किया गया है। ब्राह्मण से ग्रन्थविशेष अभिप्रेत है। बृह् वर्धने धातु से निष्पन्न ब्रह्मन् शब्द का अर्थ है– वर्धन, विस्तार या यज्ञ। अतः यज्ञ की विविध क्रियाओं को बतलाने वाले ग्रन्थ सामान्य रूप से ब्राह्मण कहे जाते हैं। ब्राह्मण के तीन भाग है– ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। इस प्रकार वेद के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् समाहित होते हैं। वेदाङ्ग वेद के उपकारक हैं। अतः वैदिक वाङ्मय में उनका भी समाहार किया जाता है।

विद् ज्ञाने धातु से घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न वेद शब्द का अर्थ है– ज्ञान। किन्तु सभी ज्ञान की वेद संज्ञा नहीं है। सायण के अनुसर 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः' अर्थात् जो ग्रन्थ इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट वस्तु के परिहार के कारणभूत अलौकिक उपाय को बतलाता है, वह वेद है। आचार्य विष्णुमित्र के अनुसार 'विद्यते ज्ञायते लभ्यते धर्मादिपुरुषार्थ इति वेद' अर्थात् जिसके द्वारा धर्मादि चारों पुरुषार्थ प्राप्त किये जाते हैं, वह ज्ञान वेद कहलाता है। यद्यपि वेद ज्ञानार्थक है किन्तु उसका अभिधान संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के लिए किया गया है। तदुपकारक होने के कारण वेदाङ्ग भी वैदिक वाङ्मय में समाहित हैं।

१.२ चार वेद

मन्त्रों के समूह का नाम संहिता है। पहले वेद एक ही था। यज्ञ के अनुष्ठान को दृष्टि में रखकर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिए वेदव्यास ने वेद का चतुर्धा विभाजन किया। ऋत्विक् होता के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन ऋग्वेदसंहिता में, अध्वर्यु ऋत्विक् के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन यजुर्वेद संहिता में, उद्गाता ऋत्विक् के लिए सामवेद संहिता में तथा ब्रह्मा ऋत्विक् के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन अथर्ववेद संहिता में किया और इनको क्रमशः पैल, वैशम्यायन, सुमन्तु और जैमिनि को पढ़ाया।

१.३. चार ऋत्विक्

वस्तुतः यज्ञ के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है– होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। (१) **हौत्रकर्म** का सम्पादन **होता** नामक ऋत्विक् करता है, जो ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ करके अपेक्षित देवताओं को यज्ञ में आह्वान करने का कार्य करता है। वह 'याज्या' तथा अनुवाक्या ऋचाओं का पाठ करता है जिसका पारिभाषिक नाम है– शस्त्र। (२) **अध्वर्यु** यज्ञ के मुख्य कर्मों का निष्पादक प्रधान ऋत्विक् होता है। उसी के विशिष्ट कर्म के लिए यजुर्वेद की संहिता सङ्कलित की गयी। (३) **उद्गाता** तत्तत् देवताओं की स्तुति में सामवेद की संहिता के मन्त्रों का गायन करता है जिसका पारिभाषिक नाम स्तोत्र है। (४) **ब्रह्मा** ऋत्विक् का कार्य यज्ञ की बाहरी विघ्नों से रक्षा करना, स्वरों में सम्मान्य त्रुटियों का परिमार्जन करना तथा यज्ञीय अनुष्ठानों में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के दोषों के लिए प्रायश्चित **का विधान** करना है। **इसीलिए ब्रहमा यज्ञ** का अध्यक्ष होता है जिसका कार्य यागीय अनुष्ठानों को **पूर्णरूपेण निरीक्षण तथा त्रुटिमार्जन करना होता है**। यज्ञ निरीक्षण का प्रधान उत्तरदायित्व संभालने वाला

ब्रह्मा वेदत्रयी का ज्ञाता होता है, परन्तु उसका विशिष्ट वेद अथर्ववेद ही है।

१.४. वेदत्रयी

ऋक्, यजुः और साम– इस स्वरूप के भेद से वेद का त्रिधा विभाजन हुआ है। **'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'** (जै०सू० २.१.३५) अर्थात् जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था होती है, उन छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहा जाता है। **'गीतिषु सामाख्या'** (जै०सू० २.१.३६) अर्थात् इन ऋचाओं पर जो गायन किये जाते हैं, उन गीतिरूप मन्त्रों को साम कहते हैं। **'शेषे यजुः शब्दः'** (जै०सू० २.१.३७) इन ऋचाओं और सामों से अन्य मन्त्रों को यजुष् कहा गया है। **'गद्यात्मकं यजुः'** के अनुसार यजुष् गद्यात्मक होते हैं। इस प्रकार मन्त्रों की रचना तीन विधाओं में हुई है– ऋक्, यजुष्, और सामन्। इन्हीं के आधार वेद को ऋक्, यजुः, साम– इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। ऋग्वेद ऋचात्मक, सामवेद सामात्मक (गेयात्मक) और यजुर्वेद यजुषात्मक (गद्यात्मक) हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अथर्ववेद वेदत्रयी के अन्तर्गत नहीं है। वस्तुतः अथर्ववेद के मन्त्रों का छन्दोबद्ध भाग ऋक् (ऋचा) और गद्यात्मक भाग यजुष् के अन्तर्गत समाहित है।

१.५. वेद के विभाग

सभी वेदों के मुख्य चार विभाग हैं– (१) संहिता (२) ब्राह्मण (३) आरण्यक (४) उपनिषद्। यहाँ संहिता का अर्थ है– वह ग्रन्थ जिसमें वेदमन्त्र सङ्कलित किये गये हैं। ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्व (अथर्वन्) रूपात्मक मन्त्रों के चारों सङ्कलन ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद ही संहिता के नाम से कहे जाते हैं।

१.५.१ संहिता

संहिता-ग्रन्थों की संख्या चार है। जिस ग्रन्थ में विभिन्न ऋषियों द्वारा दृष्ट-ऋक् मन्त्रों का सङ्कलन किया गया है, उसे ऋग्वेद-संहिता; जिस ग्रन्थ में यज्ञ-यागादि में प्रयुक्त होने वाले यजुष् मन्त्रों का सङ्कलन किया गया उसे यजुर्वेद-संहिता, जिस ग्रन्थ में यज्ञ-यागादि में गाये जाने वाले साममन्त्रों का सङ्कलन हुआ है, उसे सामवेद-संहिता एवं शान्तिक तथा पौष्टिक कार्यों से सम्बन्धित मन्त्रों का जो सङ्कलन तैयार किया गया, उसे अथर्ववेद-संहिता कहा गया। यद्यपि ऋक्-लक्षण पद्यात्मक मन्त्र चारों संहिताओं में प्राप्त होते हैं, फिर भी जिस सङ्कलन में केवल ऋङ्मन्त्रों (ऋचाओं) का ही सङ्कलन है, उसे ऋग्वेद-संहिता कहते हैं। जिस सङ्कलन में यजुष् मन्त्रों की अधिकता है और साथ ही कतिपय ऋक्-लक्षणयुक्त मन्त्र भी गद्य रूप में पढ़े जाते हों, वह सङ्कलन यजुर्वेद-संहिता कहलाता है। इसी प्रकार स्तोम एवं गान के आधारभूत कतिपय ऋचाओं एवं स्तोम-लक्षण कतिपय मन्त्रों के साथ ही उसमें 'साम' का ही सङ्कलन प्राधान्य प्राप्त कर चुका है, उसे सामवेद-संहिता कहते हैं। इस प्रकार पद्य, गद्य एवं साम के आधार पर जो संहिताएँ सङ्कलित की गयीं उनका नामकरण तो हो गया, परन्तु अन्य सङ्कलन का नामकरण क्या हो, इस समस्या का समाधान उन मन्त्रों के द्रष्टा अथर्वा और ऋषियों के नाम से 'अथर्वांगिरस् संहिता' अथवा अथर्ववेद-संहिता नाम रखकर कर लिया गया है।

१.५.२. ब्राह्मण

संहितागत मन्त्रों के व्याख्यापरक ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। इन ग्रन्थों में संहितागत मन्त्रों की व्याख्या के साथ ही उनका विविध याज्ञिक कर्मों में विनियोग भी बतलाया गया है। 'ब्रह्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं, जिनमें 'मन्त्र' और 'यज्ञ' अर्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में मन्त्रों की व्याख्या के साथ ही साथ यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा उनका सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना मुख्य उद्देश्य समझा गया है। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञों की वैज्ञानिक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत की गयी है। विश्व-साहित्य में गद्य का आविर्भाव तो यजुर्वेद से ही हो गया था परन्तु उसे परिष्कार मिला है ब्राह्मणग्रन्थों में। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विविध प्रकार की ललित कथाओं के माध्यम से यज्ञ में होने

वाले विविध कर्मकाण्डों का औचित्य समझाने का सफल प्रयास किया गया है। सभी ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्यमय हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ का विधान कब किया जाय, कैसे किया जाय, उसमें कौन-कौन से साधन आवश्यक हैं, उन यज्ञों के अधिकारी कौन हैं इत्यादि विषयों को सुलझाने का प्रयास भी किया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विवेच्य विषय है– विधि। स्थान-स्थान पर अनेक आख्यान प्रस्तुत करके यजमानों के अन्त:करण में यज्ञ के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना भी ब्राह्मण-ग्रन्थों का एक प्रयोजन है। यत्र-तत्र कतिपय शब्दों का निर्वचन करके ये ब्राह्मण ग्रन्थ अपने उद्देश्य-सिद्धि में सफल हुए हैं। सभी संहिताओं के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

१.५.३. आरण्यक

जिन ग्रन्थों का प्रणयन विशेष रूप से अरण्य में पढ़ने के लिए किया गया था वे आरण्यक कहलाये। आरण्यक-ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ न होकर उनके अन्तर्गत विद्यमान आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा है। प्राणविद्या की भी महत्ता इन आरण्यक ग्रन्थों में प्रतिपादित की गयी है। आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थों को ब्राह्मणग्रन्थों का परिशिष्ट भी कह सकते हैं।

१.५.४. उपनिषद्

भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान-धारा को सरल प्रवाही रूप में प्रस्फुटित करने का गौरव उपनिषद् साहित्य को ही प्राप्त हुआ है। वेद का अन्तिम भाग होने एवं संहिता-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के सारभूत तत्त्वज्ञान को प्रतिपादन करने के कारण ही उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं। उपनिषदों की गणना प्रस्थानत्रयी में की जाती है। गीता तथा ब्रह्मसूत्र के उपजीव्य ग्रन्थ उपनिषद् ही हैं। उपनिषद्-वाङ्मय भारतीय-संस्कृति के आध्यात्मिक चिन्तन का चरम निदर्शन है। दाराशिकोह जैसे इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने भी उपनिषदों को अपने अध्ययन का प्रधान विषय बनाया है। पाश्चात्त्य विद्वानों की दृष्टि में भी उपनिषद् विश्व के अध्यात्म-गुरु का स्थान प्राप्त कर चुके हैं।

वेदों के उपर्युक्त चतुर्धा विभाग का एक विशेष कारण भी है। भारतीय संस्कृति के अनुसार हमारा सम्पूर्ण जीवन चार आश्रमों में विभाजित था– (१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ एवं (४) संन्यास। इन आश्रमों का वर्ष-विभाजन भी किया गया था। सामान्यत: प्रारम्भ से २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम, उसके बाद ५० वर्ष की अवस्था तक गृहस्थाश्रम तत्पश्चात् ७५ वर्ष की अवस्था तक वानप्रस्थ आश्रम और शेष आयु संन्यास आश्रम में व्यतीत करने का विधान था। ब्रह्मचर्य आश्रम में संहिता-ग्रन्थों का पढ़ना एवं कण्ठाग्र करना विहित था। गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए यज्ञ-यागादि करने का विधान था। वानप्रस्थाश्रम में पति-पत्नी को पुत्रों पर परिवार का भार सौंपकर जङ्गल में जाकर आरण्यक-ग्रन्थों का अध्ययन एवं तदनुरूप कार्य करना पड़ता था। जीवन की अन्तिम अवस्था में संन्यास ग्रहण करके केवल आध्यात्मिक सुधा-धारा का पान करने के लिए उपनिषदों का अध्ययन, मनन एवं प्रवचन करते हुए लोकोपकार करने का विधान था।

१.७ संहिता-ग्रन्थ

१.७.१. ऋग्वेद-संहिता का महत्त्व

अधोलिखित कारणों से उपर्युक्त चारों संहिताओं में ऋग्वेद-संहिता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है–

१. भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से विचार करने पर पता चलता है कि ऋग्वेद-संहिता अन्य संहिताओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।

२. भारतीय साहित्य में जहाँ कहीं भी वेदों का प्रसङ्ग आया है वहाँ ऋग्वेद का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। "अभ्यर्हितं पूर्वम्" न्याय के अनुसार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण का ही सर्वप्रथम उल्लेख होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वत्र सर्वप्रथम उल्लिखित होने के कारण ऋग्वेद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

३. अन्य सभी वेदों ने ऋग्वेद के मन्त्रों को नि:संकोच रूप से ग्रहण किया है। यजुर्वेद के मन्त्र-काण्डों में स्थान-स्थान पर ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ उपलब्ध होती हैं। अथर्ववेद के बारह सौ मन्त्र ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। सामवेद के सभी साम ऋगाश्रित हैं। वस्तुत: सामवेद (कौथुम शाखा) के पचहत्तर मन्त्रों के अतिरिक्त अन्य सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं।

४. सभी वेदों के ब्राह्मण-ग्रन्थ अपने द्वारा कथित अर्थ में विश्वास को दृढ़ करने के लिए "इस प्रकार ऋक् ने भी कहा है"– यह कहकर ऋक् को ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

५. यज्ञ के अङ्गों को दृढ़ करने के कारण भी ऋग्वेद महत्त्वपूर्ण है। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा के अध्येता घोषित करते हैं– "यज्ञ का जो कार्य साम या यजु: के द्वारा किया जाता है वह शिथिल होता है; किंतु जो ऋक् के द्वारा किया जाता है वह दृढ़ होता है।"

६. पाश्चात्त्य विद्वानों की दृष्टि में पुराण-विज्ञान (Mythology) की दृष्टि से भी ऋग्वेद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद के सूक्तों का मूल्य इसलिए है कि इनमें अभी देवगाथाओं का निर्माण हो ही रहा है– देवता हमारी आँखों के सामने देवत्व प्राप्त करते हुए दिखलायी पड़ रहे हैं। इस प्रकार भारतीय धर्म की उत्पत्ति ऋग्वेद से ही हुई है।

१.७.२ वेदों की शाखाएँ

भारतीय परम्परा के अनुसार महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने एक मूल वेद को चार संहिताओं में संकलित किया था। संहिताओं को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने इन संहिताओं को अपने चार शिष्यों को पढ़ाया– पैल को ऋग्वेद-संहिता, जैमिनि को सामवेद-संहिता, वैशम्पायन को यजुर्वेद-संहिता और सुमन्तु को अथर्ववेद-संहिता। इन चारों शिष्यों ने इन चारों संहिताओं को अनेक शिष्यों को पढ़ाया और उन शिष्यों ने अपने शिष्यों को पढ़ाया। इसी क्रम से अध्यापन-अध्ययन मौखिक रूप से चलता रहा।

संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। यद्यपि संहिताओं के अध्यापकों और अध्येताओं ने संहिताओं के मन्त्रों को अपरिवर्तित रखने का अथक परिश्रम किया, तथापि परिवर्तन हो ही गया। इसके परिणामस्वरूप एक-एक संहिता की अनेक संहिताएँ बन गयीं। एक मूल संहिता अनेक शाखाओं में विभक्त हो गयी– एक परम्परा से अनेक परम्पराओं का आविर्भाव हुआ।

एक वेद की विभिन्न शाखाओं में परस्पर दो प्रकार के अन्तर हैं– (१) उच्चारण-विषयक अन्तर और (२) कतिपय मन्त्रों का एक शाखा में उपलब्ध होना और दूसरी शाखा में उपलब्ध न होना। एक वेद की शाखाओं में परस्पर अत्यल्प अन्तर उपलब्ध होता है। संहिताओं में सूक्तों और मन्त्रों का क्रम प्राय: समान ही होता है। कतिपय शब्दों अथवा मन्त्रों तक ही अन्तर सीमित होता है। ऐसे उदाहरण अल्प ही हैं जहाँ एक शाखा में दूसरी शाखा की अपेक्षा कतिपय अधिक सूक्त हैं। शाखाएँ प्राचीन सूक्तों के स्वतन्त्र संग्रह-ग्रन्थ नहीं हैं, अपितु एक ही मूल-संग्रह के विभिन्न संस्करण हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद की एक ही शाखा (शाकल) की संहिता अब तक उपलब्ध हुई है। भविष्य में यदि ऋग्वेद की अन्य शाखाओं की संहिताओं के हस्तलेख उपलब्ध होते हैं, तो उन हस्तलेखों के आधार पर शाकल-संहिता में ही अन्य संहिताओं के पाठ-भेदों को पाद-टिप्पणियों में दिखलाये जाने से कार्य चल जायेगा।

वेदों की शाखाओं की संख्या के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में परस्पर-विरोधी उल्लेख मिलते हैं। अस्तु, पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की इक्कीस (२१), यजुर्वेद की एक सौ एक (१०१), सामवेद की एक हजार (१०००) और अथर्ववेद की नौ (९) शाखाएँ हैं। इनमें से अधिकतर शाखाएँ विनष्ट हो गयी हैं। आजकल अधोलिखित शाखाओं की संहिताएँ ही उपलब्ध हैं–

ऋग्वेद — शाकल

यजुर्वेद (शुक्ल) — (१) काण्व; (२) माध्यंदिन।

यजुर्वेद (कृष्ण) — (१) तैत्तिरीय; (२) मैत्रायणी; (३) कठ; (४) कपिष्ठलकठ (अंशत: उपलब्ध)।

सामवेद — (१) कौथुम; (२) जैमिनीय।

अथर्ववेद — (१) शौनक; (२) पैप्पलाद (अंशत: उपलब्ध)।

१.७.३. ऋग्वेद की शाखाओं का विवरण

ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं में पाँच मुख्य हैं— (१) शाकल; (२) बाष्कल; (३) आश्वलायन; (४) शाङ्खायन और (५) माण्डूकायन।

१. शाकल-शाखा— ऋग्वेद की एकमात्र उपलब्ध संहिता शाकल-शाखा की है। इस शाखा के प्रवर्तक वेदमित्र शाकल्य हैं। इनके द्वारा प्रोक्त शाखा तथा इनके शिष्य शाकल कहलाते हैं। वेदमित्र शाकल्य के पाँच शिष्य थे— मुद्गल, गालव, खालीय, वात्स्य और शैशिरि। इन शिष्यों ने पाँच उपशाखाओं का प्रवर्तन किया इनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं हुई है।

शाकल-संहिता में १०१७ सूक्त हैं। दस मण्डलों की सूक्त-संख्या क्रमश: इस प्रकार हैं— १९१+४३+६२+५८+८७+७५+१०४+९२+११४+१९१ = १०१७। इनके अतिरिक्त अष्टम मण्डल में ग्यारह सूक्त (८.४९-५९) भी हैं, जो 'बालखिल्य' कहलाते हैं। इनका पदपाठ उपलब्ध नहीं है।

२. बाष्कल-शाखा— पैल के दूसरे शिष्य बाष्कल थे। बाष्कल के चार शिष्य हुए— बौध्य, अग्निमाठर, पराशर तथा जातूकर्ण्य। इन चारों ने अपनी-अपनी उप-शाखाओं का प्रवर्तन किया। किन्तु अब तक न बाष्कल-शाखा की संहिता उपलब्ध हुई और न किसी उपशाखा की संहिता। बाष्कल-शाखा की विशेषताओं का उल्लेख आश्वलायन-गृह्यसूत्र, शाङ्खायन-गृह्यसूत्र, अनुवाकानुक्रमणी, बृहद्देवता आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है। इनसे ज्ञात होता है कि शाकल-संहिता के अनुसार ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र "समानी व आकूति:" है तथा बाष्कल-संहिता के अनुसार "तच्छंयोरावृणीमहे" है। शाकल-संहिता के अनुसार सूक्तों की संख्या १०१७ है। बाष्कल-संहिता में आठ सूक्त अधिक हैं। इस प्रकार बाष्कल-संहिता में १०२५ सूक्त हैं। बाष्कल-संहिता में प्रथम मण्डल के मन्त्रों का क्रम भी कहीं-कहीं शाकल-शाखा के क्रम से भिन्न है।

३. आश्वलायन-शाखा— इस शाखा की संहिता अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुई है। इसके श्रौतसूत्र (आश्वलायन-श्रौतसूत्र) और गृह्यसूत्र (आश्वलायन-गृह्यसूत्र) ही मिलते हैं।

४. शाङ्खायन-शाखा— इस शाखा की संहिता अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुई है। इसके ब्राह्मण (शाङ्खायन-ब्राह्मण), आरण्यक (शाङ्खायन-आरण्यक), श्रौतसूत्र (शाङ्खायन-श्रौतसूत्र) और गृह्यसूत्र (शाङ्खायन-गृह्यसूत्र) उपलब्ध हैं।

५. माण्डूकायन-शाखा— इस शाखा का कोई भी ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है।

१.७ ऋग्वेद का रचना काल

भारतीय दृष्टिकोण और परम्परायें वेदों को अनादि एवं नित्य मानते हैं। भारतीय साहित्य के अनुसार सृष्टि के आदि में ईश्वर ने वेदों का ज्ञान अग्नि, वायु, सूर्य और अङ्गिरा को दिया था। उस ईश्वरीय ज्ञान, वेद मन्त्रों के ऋषियों ने दर्शन किये। जिन ऋषियों ने जिन मन्त्रों के दर्शन किये, वे उन मन्त्रों के ऋषि कहलाये। मनुस्मृति आदि के प्रमाणों को उद्धृत करके स्वामी दयानन्द ने यह प्रमाणित किया कि सृष्टि की उत्पत्ति १,९६,०८,५२,९७६ वर्ष पूर्व हुई थी, अत: वेदों का आविर्भाव इतने ही वर्ष पहले हुआ था।

परन्तु वर्तमान युग की ऐतिहासिक दृष्टि, जो विकासवाद पर विश्वास रखती है, इस भारतीय दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिये सहमत नहीं है। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने वाले अनेक पाश्चात्त्य विद्वानों ने ऋग्वेद को सबसे प्राचीन मानकर उसके समय के निर्धारण का प्रयत्न किया। इन विद्वानों का कथन है कि प्रत्यक्ष और प्रबल प्रमाणों के अभाव में ऋग्वेद के समय को ठीक-ठीक निश्चित नहीं किया जा सकता; परन्तु उसका अनुमान अवश्य किया जा सकता है। हो सकता है कि उस अनुमान

में कुछ शताब्दियों का अन्तर रह जाये। पाश्चात्य आलोचकों के अनुकरण में भारतीय आलोचकों ने भी वेदों के समय को निर्धारित करने का प्रयत्न किया और ये ऋग्वेद के समय को पाश्चात्य आलोचकों की अपेक्षा अधिक प्राचीन समय तक खींच कर ले गये। इस स्थल पर ऋग्वेद की रचना के समय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों को उद्धृत करना उपयुक्त होगा।

मैक्समूलर का मत—इग्लैण्ड की 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट' नामक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 'ऋग्वेद' (शाकल शाखा) का प्रकाशन हुआ था। यह ग्रन्थ १८५९ ई० के लगभग प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में मैक्समूलर ने ऋग्वेद के समय को निर्धारित करने का प्रयत्न किया। इन्होंने 'ऋग्वेद' की रचना को १२०० ई०पू० का सिद्ध किया।

अपने मत को सिद्ध करने के लिए मैक्समूलर ने कहा कि गौतम बुद्ध के समय तक वैदिक साहित्य की रचना पूरी हो चुकी थी। वैदिक साहित्य को उन्होंने चार भागों—छन्दः, मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र में विभाजित किया तथा उनके अनुसार प्रत्येक भाग के विकास का एक विशेष काल रहा था। सबसे पहले छन्दों, उसके बाद मन्त्रों, तदनन्तर ब्राह्मणों तथा उनके पश्चात् सूत्रों की रचना हुई। मैक्समूलर के अनुसार प्रत्येक विभाग के विकास और उसकी पूर्णता के लिये २०० वर्षों का समय पर्याप्त है।

गौतम बुद्ध का समय ५०० ई०पू० का है। अतः सूत्रों की रचना ६०० ई०पू० में पूरी हो चुकी होगी। सूत्रों से २०० वर्ष पहले अर्थात् ८०० ई०पू० का समय ब्राह्मणों का है। इस समय तक ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों की रचना हो जानी चाहिये। उससे पहले २०० वर्षों का समय मन्त्रों का है। वेदों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—छन्दः और मन्त्र। मन्त्रों का विनियोग यज्ञों के अनुष्ठानों में किया जाता है तथा शेष छन्द हैं। मन्त्रों की रचना और विकास उससे पहले के २०० वर्षों में अर्थात् १००० ई०पू० तक तथा छन्दों की रचना उससे भी २०० वर्ष पहले अर्थात् १२०० ई०पू० में हुई थी।

इस कालगणना के सम्बन्ध में मैक्समूलर स्वयं पूरी तौर पर सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने बाद में स्वयं कहा कि यह समय निर्धारण तो केवल एक अनुमान है। वेदों के समय को ठीक-ठीक निर्धारित करना असम्भव-सा है। हो सकता है कि वेदों का अस्तित्व इससे पहले भी रहा हो।

विल्सन, कीथ, कोलब्रुक आदि विद्वानों ने 'ऋग्वेद' की रचना के समय के सम्बन्ध में मैक्समूलर का समर्थन किया है।

ऋग्वेद के समय का निर्धारण करने में अनेक विद्वानों ने मैक्समूलर की पद्धति को तो स्वीकार किया; परन्तु प्रत्येक स्तर के विकास के लिये २०० वर्ष के समय को अपर्याप्त माना। ओल्डनवर्ग के अनुसार ऋग्वेद की रचना का समय २५०० ई०पू० का होना चाहिये।

मैक्डोनल का मत—मैक्डोनल ने ऋग्वेद का रचना काल १३०० ई०पू० प्रतिपादित किया है। मैक्डोनल का विचार है कि आर्यों की भारतीय और ईरानी शाखायें, जो पहले एक ही थीं, १३०० ई०पू० के लगभग पृथक् हुई थीं। इसी समय आर्यों की भारतीय शाखा द्वारा ऋग्वेद की रचना हुई। इसके ५०० वर्ष बाद ८०० ई०पू० में अवेस्ता की रचना हुई। उनका कहना है कि जैकोबी के अनुसार यदि आर्यों की भारतीय एवं ईरानी शाखाओं के पृथक् होने के समय को ४५०० ई०पू० भी मान लिया जावे, तो भी ३००० वर्षों तक इनकी भाषायें अपरिवर्तित ही रही होंगी। १९०७ ई० में एशिया माइनर में प्राप्त १४०० ई०पू० के अभिलेखों में मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्या आदि देवताओं के उल्लेख उस समय दोनों शाखाओं के साम्य को सिद्ध करते हैं। उसी समय के लगभग यदि दोनों शाखाओं के पृथक् होने को स्वीकार कर लिया जावे तो उसके कुछ समय बाद होने वाले भाषागत परिवर्तन ऋग्वेद की भाषा में व्यक्त हुए, जो भाषा उस युग की ईरानी से भिन्न हो गई होगी। अतः ऋग्वेद का रचना काल १३०० ई०पू० होना चाहिए।

भण्डारकर का मत—डॉ० आर०जी० भण्डारकर ने इतिहास के आधार पर वेदों की रचना के समय को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। 'ईशावास्योपनिषद्' में, जो कि 'यजुर्वेद' का ४०वां अध्याय है, 'असुर्या' शब्द आया है। भण्डारकर के अनुसार यह शब्द 'असीरिया' है। 'ऋग्वेद' में देवों और असुरों

के संग्राम का उल्लेख है। असीरिया (मेसोपोटामिया) के लोग ही वेदों में उल्लिखित असुर हैं। ये २५०० ई०पू० के लगभग भारत की ओर आये थे। अत: 'यजुर्वेद' की रचना २५०० ई०पू० के लगभग हुई होगी। 'ऋग्वेद' इससे भी पहले रचा गया होगा। अत: ऋग्वेद की रचना का समय ६००० ई०पू० रहा होगा।

सिकन्दर के आक्रमण के समय ग्रीकों ने राजवंशावलियों का संग्रह किया था। उनके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य से पहले १५४ राजाओं ने ६४५७ वर्ष तक राज्य किया था। यह समय वैदिक ही रहा होगा इससे बहुत वर्षों पहले 'ऋग्वेद' की रचना का समय ८०००-७००० ई०पू० हो सकता है।

जैकोबी का मत—जर्मनी के बोन नगर के निवासी जैकोबी महोदय ने ज्योतिष के आधार पर गणना करके 'ऋग्वेद' का समय ४५०० ई०पू० सिद्ध किया। उनका कहना है कि कल्पसूत्रों में विवाह के प्रकरण में 'ध्रुव इव स्थिरा भव' वाक्य आया है। उसका अभिप्राय है कि ध्रुव तारा उस समय अधिक चमकीला और स्थिर रहा होगा। यह स्थिति २००० ई०पू० की हो सकती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त सम्पात का उल्लेख है। गणना द्वारा यह समय २५०० ई०पू० का प्रतीत होता है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों और कल्प सूत्रों का समय २५०० ई०पू० के लगभग रहा होगा। 'ऋग्वेद' का समय और भी बहुत पहले ४५०० ई०पू० होना चाहिये।

हाग—ज्योतिष के आधार पर हाग महोदय ने वेदाङ्ग ज्योतिष की रचना का समय ११८६ ई०पू० निर्धारित करके ब्राह्मण ग्रन्थों का रचना काल १४००-१२०० ई०पू० निश्चित किया। उनके अनुसार वैदिक संहितायें २०००-१४०० ई०पू० में निबद्ध हुई। मन्त्रों की रचना का समय १४०० २००० ई०पू० के लगभग रहा होगा।

शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित—महाराष्ट्र के प्रसिद्ध ज्योतिषी शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने ज्योतिष के आधार पर नक्षत्रों की गणना करके शतपथब्राह्मण का समय ३००० ई०पू० निर्धारित किया और ऋग्वेद की रचना के समय को ३५०० ई०पू० का प्रतिपादित किया।

तिलक का मत—ज्योतिष के आधार पर वेदों के समय को निर्धारित करने में लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। उनके अनुसार संहिताओं का निबन्धन ४५०० ई०पू० में हुआ था और उससे पहले २००० वर्षों में सारे मन्त्र रचे गये थे। इस प्रकार से प्राचीनतम ऋचायें ६५०० ई०पू० तक की हो सकती है।

तिलक का कहना है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय नक्षत्रों की गणना कृत्तिका नक्षत्र से होती थी तथा कृत्तिका नक्षत्र के समय दिन और रात बराबर होते थे। वर्तमान समय में २१ मार्च और २३ सितम्बर को दिन और रात बराबर होते हैं और सूर्य उस समय अश्विनी नक्षत्र में रहता है। इतना परिवर्तन ४५०० वर्षों में हो सकता है। अत: ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना ४५०० वर्ष पूर्व २५०० ई०पू० में हुई होगी। संहिताओं के युग में दिन और रात उस समय बराबर होते थे जब सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में होता था। यह समय ६५०० वर्ष पहले का है। अत: संहिताओं की रचना का समय ४५०० ई०पू० का है। 'ऋग्वेद' के मन्त्र के अनुसार मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त ऋतु होती थी और दिन रात बराबर होते थे। यह समय और भी २००० वर्ष पूर्व का रहा होगा। अत: ऋग्वेद के मन्त्रों का रचना काल ६५०० ई०पू० होना चाहिये।

नारायणराव भवनराव पारंगी का मत—'ऋग्वेद' की रचना के समय को निर्धारित करने के लिये भूगर्भशास्त्र को भी आधार बनाया गया है। इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले प्रमुख विद्वान् नारायण राव भवनराव पारंगी है। उन्होंने 'ऋग्वेद' की रचना का समय ९००० वर्ष पूर्व का निर्धारित किया है।

ऋग्वेद में अनेक भौगोलिक स्थितियों-नदियों, समुद्रों आदि का वर्णन है। ऋग्वेद के एक मन्त्र (ऋग्वेद १०.१३.६५) में सप्तसैन्धव प्रदेश के दोनों ओर दो समुद्रों का वर्णन आता है। इनमें पश्चिम का समुद्र सम्भवत: अरब सागर था, पूर्व समुद्र वर्तमान पंजाब के ठीक पूर्व में था और वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल के मैदान इसमें लुप्त थे। बहुत समय की अवधि में हिमालय पर्वत से निकलने वाली नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी से यहीं का समुद्र पाट दिया गया।

ऋग्वेद के दो मन्त्रों (९.३६.६ और १०.४७.२) के अनुसार सप्तसैन्धव प्रदेश के चारों ओर चार समुद्र थे। इनमें से उत्तरी समुद्र सम्भवत: वर्तमान फारस और टर्की के उत्तर-पश्चिम में था। यह समुद्र बहुत कुछ प्राकृतिक कारणों से सूख गया; परन्तु इसके कुछ अवशेष कृष्णसागर, कैस्पियन सागर, अराल झील और बाल्कश झील के रूप में अब भी विद्यमान हैं। पश्चिम में अरब सागर था और पूर्व में वह सागर था जहाँ, अब उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल के मैदान हैं। वर्तमान राजपूताना के प्रदेश में दक्षिण समुद्र था, जिसमें सरस्वती नदी गिरती थी। राजपूताने में विद्यमान खारे नमक की झीलें और मरुस्थल में नमक की तहें प्रमाणित करती है कि वहाँ कभी समुद्र रहा होगा। सरस्वती नदी का वर्णन ऋग्वेद में आया है। यह गर्जना करती हुई दक्षिण समुद्र में गिरती थी।

भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार इस प्रकार की भौगोलिक स्थिति ९००० वर्ष पूर्व रही होगी। इस आधार पर पारंगी महोदय ने ऋग्वेद की रचना का समय ९००० वर्ष पहले का निर्धारित किया है।

अमलनरेकर का मत—प्रसिद्ध लेखक एच०जी० वेल्स ने अपनी 'आउट लाइन्स ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री' में २५०००-५०००० वर्ष पहले का नक्शा दिया है। नरेकर महोदय ने इस आधार पर ऋग्वेद का रचना काल ६६०००-७५००० वर्ष पहले का बताया है। प्रोफेसर लौटूसिंह ने सनातनी ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद की रचना को ४ लाख ३५ हजार वर्ष पुराना कहा है।

अनेक विद्वानों की यह भी मान्यता है कि ऋग्वेद के कुछ सूत्र अधिक प्राचीन हैं और कुछ बाद में रचे गये थे। वेद मन्त्रों की रचना की एक परम्परा रही और इनकी रचना क्रमश: होती रही। कालान्तर में इनका सङ्कलन कर लिया गया।

ऋग्वेद एवं अन्य वेदों की रचना के समय को ठीक-ठीक निर्धारित करना प्राय: असम्भव-सा ही है। इनके समय को निर्धारित करने में विभिन्न विद्वानों ने शताब्दियों नहीं, अपितु सहस्राब्दियों का अन्तर किया है; परन्तु यह निश्चित है कि वेद संसार का सबसे प्राचीन साहित्य है। इनके अर्थों को ठीक प्रकार से समझना न केवल गैर भारतीयों के लिये अपितु भारतीय विद्वानों के लिए भी कठिन रहा है। भारतीय विचारधारायें वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानकर इनके समय के सम्बन्ध में विचार नहीं करतीं। इसलिये वेदों के समय-निर्णय की ओर अधिक ध्यान न देकर इनके प्रतिपाद्य विषयों और उपदेशों पर ही ध्यान देना अधिक उचित है।

१.८. ऋग्वेद-संहिता

'ऋग्वेद' सूक्तों का वेद है। सूक्त का अर्थ है– सुभाषित या उत्तम वचन अर्थात् जिन मन्त्रों में उत्तम वचन होते हैं, उनके समूह को सूक्त कहा गया है। वैदिक साहित्य की समस्त रचनाओं में ऋग्वेद संहिता सर्वाधिक प्राचीन, महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक है। इसमें किसी भी विद्वान् को किञ्चितमात्र भी विप्रतिपत्ति नहीं है; क्योंकि लगभग सम्पूर्ण सामवेद (७५ मन्त्रों को छोड़कर) और यजुर्वेद का पद्यात्मक अंश तथा अथर्ववेद के कतिपय अंश ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। ऋग्वेद-संहिता को संक्षेप में 'ऋग्वेद' भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ छान्दोबद्ध है। छन्दोबद्ध या पद्यात्मक मन्त्रों को 'ऋक्' या 'ऋचा' कहते हैं। ऋचाओं का विशाल संग्रह ही ऋग्वेद संहिता है।

महाभाष्य में पतञ्जलि ने इस वेद की इक्कीस शाखाओं का निर्देश किया है– **एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्**। किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में केवल ५ शाखाओं का ही उल्लेख प्राप्त होताा है। ये शाखाएँ हैं– शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शाङ्खायन और माण्डूकायन। किन्तु सम्प्रति उपलब्ध एवं प्रचलित शाखा 'शाकल' है। इस शाखा की संहिता में कुल मिलाकर १०१७ + ११ (बालखिल्य) = १०२८ सूक्त हैं। इस ग्रन्थ में लगभग १०६०० ऋचाएँ हैं।

१.८.१ ऋग्वेद का विभाजन

ऋग्वेद-संहिता का दो प्रकार से विभाजन किया गया है— अष्टकक्रम और मण्डलक्रम।

(१) अष्टकक्रम— सम्पूर्ण ग्रन्थ आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अष्टक में आठ

अध्याय हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ ६४ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय अवान्तर विभागों में विभाजित है जिसे वर्ग कहा जाता है। वर्ग ऋचाओं के समुदाय का नाम है। वर्ग में ऋचाओं की संख्या निश्चित नहीं है। ऋग्वेद में वर्गों की कुल संख्या २००६ है।

(२) मण्डलक्रम— ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है। प्रत्येक मण्डल में अनेक सूक्त और सूक्तों के अन्तर्गत मन्त्र (ऋचाएँ) हैं। ऋग्वेद का यह विभाग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। १० मण्डलों में विभक्त होने के कारण ऋग्वेद को 'दशतयी' भी कहा जाता है। ऋग्वेद में कुल ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त हैं। इन सूक्तों के अतिरिक्त ११ सूक्त बालाखिल्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद में कुल १०५८० ऋचाएँ हैं और ऋचाओं में कुल शब्दों की संख्या १५३८२६ तथा अक्षरों की संख्या ४३२०००० है। यह गणना कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी के आधार पर की गयी है।

ऋग्वेद की भाषा तथा विषय के गम्भीर विवेचन के उपरान्त विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक के सूक्त अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। पाश्चात्य विद्वान् इस अंश को 'वंश-मण्डल' के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध एक-एक ऋषि के साथ है। द्वितीय मण्डल के ऋषि गृत्सपद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, षष्ठ के भारद्वाज और सप्तम मण्डल के ऋषि वशिष्ठ हैं। नवम मण्डल के ऋषि इन्हीं ऋषियों में से हैं। प्रथम और अष्टम मण्डल समकालीन प्रतीत होता है। दशम मण्डल सर्वाधिक अर्वाचीन है; क्योंकि इस मण्डल के सूक्तों में स्थान-स्थान पर मण्डलों के सूक्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। भाषा की दृष्टि से भी इस मण्डल को अन्य मण्डलों से अर्वाचीन सिद्ध किया जाता है।

१.८.२ ऋग्वेद के प्रतिपाद्य विषय

ऋग्वेद का अर्थ है– ऋचाओं का वेद। छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही नाम ऋक् या ऋचा है। वेद का अर्थ ज्ञान है। अत: ऋग्वेद का शाब्दिक अर्थ हुआ– ऋचाओं का ज्ञान। यद्यपि अन्य वेदों में भी ऋचाओं का सङ्कलन हुआ है परन्तु ऋग्वेद में केवल ऋचाओं का ही सङ्कलन है। ऋचाओं से देवताओं की स्तुति की जाती है। इस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों को पढ़कर देवताओं की स्तुति करना ही इस वेद का मुख्य प्रयोजन है। किन्तु ऋग्वेद में देवस्तुति के साथ ही साथ ब्रह्मविद्या, धार्मिक विचार, व्यवहार एवं मान्यताओं के उद्घाटन भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश ऋग्वेद के अध्ययन से पड़ता है। ऋग्वेद में सृष्टि-रचना, दार्शनिक विचार, वैवाहिक-रीति-रिवाज, पशु-पक्षी तथा वृक्षों आदि से सम्बद्ध कुछ मन्त्र भी मिलते हैं। ऋग्वेद में कुछ संवाद सूक्त भी उपलब्ध होते हैं।

सम्पूर्ण ऋग्वेद में मात्र ४० सूक्त इस प्रकार के उपलब्ध होते हैं, जिनमें उपरिकथित विषय अनुस्यूत हैं, अन्यथा ऋग्वेद देवताओं की स्तुतिओं से सम्बन्धित मन्त्रों से परिपूर्ण ग्रन्थ है।

ऋग्वेद में हिन्दू धर्म के सभी तत्त्व मूलरूप में विद्यमान हैं। ऋग्वेद वस्तुत: हिन्दू धर्म और दर्शन की आधारशिला है। भारतीय कला एवं विज्ञान के उदय का सङ्केत भी यहीं पर प्राप्त होता है। विश्व के मूल में रहकर विश्व को नियन्त्रित करने वाली मूलसत्ता के व्यक्त तथा अव्यक्त रूप में विश्वास, मन्त्र, यज्ञ आदि से अनेक पूजन, यजन और मौलिक धार्मिक तत्त्व ऋग्वेद में पाये जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वों की जिज्ञासा, तत्त्वों के रूपकात्मक वर्णन, मानवजीवन की आकाङ्क्षाओं, आदर्शों तथा मान्यताओं आदि पर ऋग्वेद के अध्ययन से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दर्शन की मूल समस्याओं-ब्रह्म, आत्मा, माया, कर्म, पुनर्जन्म आदि के ज्ञान के स्रोत भी ऋग्वेद में प्राप्त हो जाते हैं। देववाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, अद्वैतवाद आदि दार्शनिक वादों का बीज भी ऋग्वेद में ही दिखलायी पड़ता है।

१.८.३ ऋग्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ

वैदिक साहित्य में संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्थान आता है। ये ग्रन्थ वैदिक साहित्य

के अभिन्न अङ्ग माने जाते हैं। 'ब्रह्म' का अर्थ है मन्त्र, यज्ञ आदि। वैदिक साहित्य का वह भाग जो विविध वैदिक यज्ञों के लिए वेद-मन्त्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी उत्पत्ति, विवरण व्याख्या आदि प्रस्तुत करता है और जिसमें स्थान-स्थान पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं का समावेश है, 'ब्राह्मण' कहलाता है– **ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः ।**

वास्तव में यज्ञ-विज्ञान का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रन्थ ही 'ब्राह्मण' कहलाते हैं। अनेक वैदिक विद्वान् ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी 'वेद' कहते हैं। **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण भाग का सामूहिक नाम 'वेद' है। शबरस्वामी ने ब्राह्मग्रन्थों की विषय-सामग्री को इस प्रकार बतलाया है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ।
उपमानं दशैते तु विषया ब्राह्मणस्य च ।। —शाबर-भाष्य २.१.८

अर्थात् यज्ञ क्यों किए जाएँ, कब किए जाएँ, किन साधनों से किए जाएँ यज्ञ के अधिकारी कौन हैं, कौन नहीं है, इत्यादि विभिन्न विषयों का निर्देश इन ब्राह्मणग्रन्थों में किया गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ के वर्ण्यविषय को चार भागों में बाँटा जा सकता है– १. विधिभाग २. अर्थवाद भाग ३. उपनिषद् भाग तथा ४. आख्यान भाग। **विधिभाग** में यज्ञों के विधानों का वर्णन है। इसमें यज्ञीय कर्मों का अर्थ तथा अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति बतलायी गयी है। **अर्थवादभाग** में यज्ञों के माहात्म्य को समझाने के लिए प्ररोचनात्मक विषयों का समावेश है। इसमें यज्ञीय कार्यों के समर्थन में सुन्दर-सुन्दर कथाएँ कही गयी हैं। मीमांसाकार जैमिनी ने अर्थवाद के भी तीन भेद बतलाये हैं– गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। ब्राह्मणग्रन्थों के उपनिषद् भाग में ब्रह्मतत्त्व का विवेचन है। इसमें रमणीय कथाओं के माध्यम से आत्मा, जीव एवं जगत् से सम्बन्धित विषयों का मनोहारी वर्णन है। आख्यान भाग में प्राचीन ऋषिवंशों, आचार्यवंशों तथा राजवंशों की कथाएँ वर्णित हैं।

प्रत्येक वेद से सम्बन्धित ब्राह्मणग्रन्थ प्राप्त होते हैं। अब क्रमशः इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं– (१) ऐतरेय ब्राह्मण (२) कौषीतकी ब्राह्मण।

ऐतरेय-ब्राह्मण—

ऐतरेय-ब्राह्मण सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में चालीस अध्याय हैं पाँच-पाँच अध्यायों की आठ पञ्चिकाएँ हैं। इनके रचयिता 'महीदास ऐतरेय' हैं, इनका जन्म इतरा नामक दासी से हुआ था। इसमें सामयज्ञ का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। प्रारम्भिक सोलह अध्यायों में एक दिन में समाप्त होने वाले 'अग्निष्टोम' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन हैं। १७वें तथा अठारहवें अध्यायों में एक दिन में समाप्त होने वाले 'अग्निष्टोम' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन हैं। १७वें तथा अठारहवें अध्यायों में तीन सौ साठ दिनों में समाप्त होने वाले 'गवामयन' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय से चौबीसवें अध्याय तक बारह दिन में पूर्ण होने वाले 'द्वादशाह' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन प्राप्त होता है। अवशिष्ट सोलह अध्यायों में अग्निष्टोम यज्ञ तथा कतिपय अन्य विषयों का समावेश है। इन ब्राह्मण के तेईस से चालीसवें अध्याय तक राजपुरोहित तथा राज्याभिषेक आदि की स्थितियों का भी वर्णन है।

कौषीतकि ब्राह्मण—

'कौषीतकी ब्राह्मण' का दूसरा नाम 'सांखायन ब्राह्मण' भी है। यह ब्राह्मण ऐतरेयब्राह्मण के प्रारम्भिक पाँच अध्यायों का विकसित रूप ही प्रतीत होता है। इस ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं। इसमें कतिपय विशिष्ट आख्यानों की सत्ता भी पायी जाती है। प्रो० बेवर ने 'ईशान' एवं 'महादेव' से सम्बन्धित सूक्तों के आधार पर कहा है कि यह ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेद की रचना के अन्तिम काल में रचा गया है। इसी

ब्राह्मण की सातवीं पञ्चिका में 'शुन:शेप' आख्यान है जो संक्षेप में इस प्रकार है– राजा हरिश्चन्द्र वरुण देव को प्रसन्न करके एक पुत्र प्राप्त करते हैं। पुत्र का नाम रोहित है। शर्त यह थी कि वरुण जब चाहेंगे अपने पुत्र को वापस माँग लेंगे। पुत्र रोहित जब पूर्ण युवा हो जाता है, वरुण उसे माँगता है। परन्तु राजा 'वरुण' का बलि देना चाहता है, वरुण यह सुनकर जङ्गल में भाग जाता है। इसके पश्चात् राजा को वरुण के शाप से 'जलोदर' का रोग हो जाता है। रोहित इस समाचार को सुनकर लौटना चाहता है किन्तु ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र उसे भ्रमण के महत्व को समझाकर लौटने नहीं देता। इस प्रकार वह पाँच वर्षों तक जङ्गल में घूमता रहता है। छठें वर्ष रोहित को 'अजीगर्त' ऋषि अपने तीन पुत्रों- 'शुन:पुच्छ', 'शुन:शेप', तथा 'शुनोलाङ्गूल', और अपनी पत्नी के साथ मिलते हैं। रोहित एक पुत्र के बदले ऋषि को सौ गायें देने को कहता है। अजीगर्त अपने मध्यम पुत्र 'शुन:शेप' को रोहित के लिए दे देते हैं। वरुण क्षत्रिय 'रोहित' की अपेक्षा ब्राह्मण 'शुन:शेप' को बलि के लिए श्रेष्ठ समझकर स्वीकार कर लेता है। राजसूय यज्ञ में पशु के स्थान पर शुन:शेप की बलि का आयोजन होता है। इसी समय एक समस्या खड़ी हो जाती है कि ब्रह्महत्या का पाप अपने सिर पर कौन लेगा? अजीगर्त स्तम्भ में बाँधने के बदले सौ गायें तथा मारने के बदले सौ गायें लेकर उपस्थित हो जाता है। इसी समय शुन:शेप वेदों की शरण में जाकर उनसे प्रार्थना करता है। तीन ऋचाओं में उषा की स्तुति होने पर उसके बन्धन खुल जाते हैं। हरिश्चन्द्र का जलोदर रोग भी ठीक हो जाता है। इसके बाद पुरोहित वर्ग यज्ञमहोत्सव में शुन:शेप का स्वागत करता है। हरिश्चन्द्र यज्ञ के 'होता' बनते हैं तथा अपने सौ पुत्रों की उपेक्षा करके 'शुन:शेप' को पुत्र बनाकर अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हैं। इस आख्यान में स्त्री को मित्र, पुत्री को विपत्ति तथा पुत्र को स्वर्गीय कहा गया है।

१.८.४ ऋग्वेद के आरण्यक-ग्रन्थ

ऋग्वेद के दो आरण्यक-ग्रन्थ हैं— **ऐतरेय** तथा **कौषीतकि**।

ऐतरेय-आरण्यक

ऐतरेय-आरण्यक का सम्बन्ध ऐतरेय-ब्राह्मण के साथ है। इसके पाँच खण्ड प्राप्त होते हैं। दूसरे और तीसरे को उपनिषद् कहा जा सकता है। दूसरे के उत्तरार्द्ध के चार परिच्छेदों में वेदान्त का प्रतिपादन है। इसीलिए यह ऐतरेय उपनिषद् कहलाता है। ऐतरेय-आरण्यक के प्रथम आरण्यक में महाव्रत, द्वितीय में उक्थ, शस्त्र, प्राणविद्या तथा पुरुष का विवेचन है। तृतीय में ध्वनि-विज्ञान से सम्बन्धित पदपाठ, क्रमपाठ, स्वर तथा व्यञ्जन के स्वरूप का विवेचन है। चौथे तथा पाँचवें में कतिपय अन्य विषयों के साथ 'निष्कैवल्य-शास्त्र' का वर्णन है। कतिपय विद्वान् उपर्युक्त पाँच खण्डों को पाँच आरण्यक मानते हैं। इनके अनुसार पाँच आरण्यकों का संश्लिष्ट रूप ही ऐतरेय-आरण्यक है।

कौषीतकि आरण्यक

ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक कौषीतकि या शांखायन-आरण्यक है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में कर्मकाण्डीय तथ्य सन्निविष्ट हैं। तीसरा खण्ड कौषितकि-उपनिषद् कहलाता है। अध्यायों की संख्या पन्द्रह है।

१.८.५ ऋग्वेदीय उपनिषद्

वेदान्त-दर्शन के तीन प्रस्थानों में उपनिषद् का सर्वप्रमुख स्थान है। उपनिषद् वह साहित्य है, जिसमें जीवन और जगत् के रहस्यों को उद्घाटित किया गया है। उपनिषद् वैदिक-साहित्य की चरम परिणति रूप ग्रन्थ है। वैदिक साहित्य के अन्तिम ध्येय ब्रह्मतत्त्व का निरूपण होने से इसे वेदान्त भी कहा गया है। यहाँ पर कतिपय प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थों का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है—

ऐतरेयोपनिषद्

इसका सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। यह अत्यन्त लघुकाय है। ऐतरेय-ब्राह्मण के द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ से षष्ठ अध्यायों को ऐतरेयोपनिषद् कहा गया है। इसमें तीन अध्याय हैं, इनमें क्रमशः सृष्टि, जीवात्मा तथा ब्रह्मतत्त्व का निरूपण है। इस उपनिषद् की रचना का मूलाधार ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त है। इसमें विश्व को आत्मा से उद्भूत बतलाया गया है।

कौषीतकि उपनिषद्

इस उपनिषद् का भी सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। कौषीतकि-आरण्यक के तृतीय एवं षष्ठ अध्यायों को मिलाकर कौषीतकि उपनिषद् कहा गया है। इसका उपदेश सम्भवतः कुषीतक नामक ऋषि ने किया था। इस उपनिषद् में ब्रह्म-सिद्धान्त का विस्तृत निरूपण किया गया है। इसमें कतिपय ऐसे याज्ञिक विधानों का भी निरूपण है जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी कामनाओं की पूर्ति करने में सफल होता है। इसमें ज्ञान की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है।

१.९ सम्बन्धित प्रश्न

अभ्यास-

(१) वेद के कितने विभाग हैं? इनका परिचय दीजिए?

(२) ऋग्वेद के महत्त्व को प्रतिपादित कीजिए?

(३) ऋग्वेद के विभाजनक्रम पर प्रकाश डालिए?

(४) ऐतरेयब्राह्मण का परिचय दीजिए?

(५) ऋग्वेद के आरण्यकों का परिचय दीजिए?

(६) ऋग्वेदीय उपनिषदों पर प्रकाश डालिए?

(७) निम्नलिखित सभी प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

(क) कौषितकि उपनिषद् किस वेद से सम्बन्धित है?

(ख) ऋग्वेद के कौन-कौन से आरण्यक ग्रन्थ हैं?

(ग) ऋग्वेद में कितने मण्डल हैं?

(घ) ऋग्वेद में अध्यायों की संख्या कितनी है?

(ङ) शाकलशाखा किस वेद से सम्बन्धित है?

(च) सबसे पुराना वेद कौन सा है?

(छ) जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था होती है, वे मन्त्र किस नाम से अभिहित किये जाते हैं?

इकाई - २ : देवता परिचय

इकाई की रूपरेखा

२.० उद्देश्य

२.१ देवता परिचय

२.१.१ इन्द्र

२.१.२ सवितृ (सविता)

२.१.३ मरुत

२.१.४ विश्वामित्र - नदी संवाद

२.१.५ अग्नि

२.१.६ अक्ष

२.१.७ राष्ट्राभिवर्धनम्

२.१.८ पृथिवी

२.२ सम्बन्धित प्रश्न

२.० उद्देश्य

इस इकाई में निम्नलिखित देवताओं और सूक्तों के परिचयात्मक विवरण से अवगत कराया जायेगा।

२.१ देवता परिचय

२.१.१ इन्द्र

इन्द्र ऋग्वेद का सर्वाधिक लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के २५० सूक्तों में इन्द्र की स्तुति स्वतन्त्र रूप में की गयी है तथा ५० सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ भी उसे स्तुत किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद का लगभग चतुर्थांश इन्द्र के ही गुणगानों से भरा हुआ है। जिस प्रकार अग्नि और सूर्य क्रमशः पृथिवीलोक एवं द्युलोक के अधिपति हैं, उसी प्रकार इन्द्र अन्तरिक्षलोक के अधिपति हैं। इन्द्र देवता की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

निरुक्ति—

इन्द्र शब्द का निर्वचन अनिश्चित है। अतः इसका अर्थ भी अस्पष्ट है। निरुक्तकार यास्क ने निर्वचन करते हुए कहा है— इन्द्र इरा (अर्थात् अन्न के जनक मेघ) को विदीर्ण करते हैं अथवा अन्न को (वर्षण के द्वारा अंकुर उत्पन्न करके) विदीर्ण करते हैं, अथवा अन्न को प्रदान करते हैं अथवा अन्न को धारण करते हैं, अथवा इन्दु अर्थात् सोमपानार्थ द्रुतगति से जाते हैं, अथवा इन्दु अर्थात् सोम में रमण करते हैं, अथवा भूतों को (अन्न-दान) प्रदीप्त करते हैं। आचार्य आग्रयण ने इन्द्र की निरुक्ति 'यह सब करने के कारण' को आधार बनाकर किया है। आचार्य औपमन्यव ने इस सन्दर्भ में कहा है कि इन्द्र यह सब कुछ देख लिये हैं अथवा ऐश्वर्यमुक्त होते हुए वैरियों के विदारक या परिहारक हैं अथवा यज्ञवालों के

आदरकर्त्ता हैं। बृहद्देवताकार शौनक ने यास्क का अनुसरण करते हुए घोषित किया है कि उपयुक्त समय पर मरुतों से संयुक्त होकर अम्बर में घोर गर्जन के साथ अन्न (के कारणभूत मेघ) को विदीर्ण करने के कारण इन्हें ऋषि 'इन्द्र' के नाम से अभिहित करते हैं।

स्वरूप—

ऋग्वेद में इन्द्र का चित्रण मानवाकृति रूप में किया गया है। उसके विशाल शरीर, शीर्ष, भुजाओं एवं बड़े उदर का उल्लेख अनेक बार किया गया है। उसके जबड़ों एवं अधरों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वह भूरे-वर्ण का देव है। यहाँ तक कि उसके केश एवं दाढ़ी भी भूरे वर्ण के ही हैं। उसका मुख सुन्दर है। उसकी भुजाएँ भी वज्रवत् पुष्ट एवं कठोर हैं। वह सात रश्मियों (किरणों) से युक्त है।

जन्म एवं देवताओं से सम्बन्ध—

ऋग्वेद के सम्पूर्ण दो सूक्तों में इन्द्र के जन्म के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों को बतलाया गया है। निर्ऋति तथा शवसी नामक गाय को उसकी माँ कहा गया है। उनके पिता द्यौः या त्वष्टा हैं। एक स्थल पर इन्द्र को सोम से उत्पन्न कहा गया है। अग्नि और पूषन् इनके भाई हैं। इन्द्राणी पत्नी और मरुद्गण मित्र तथा सहायक हैं। इन्द्र को वरुण, वायु, सोम, बृहस्पति, पूषन् और विष्णु के साथ युग्म रूप में भी स्तुत किया गया है।

कार्य—

इन्द्र ने जन्म लेते ही समस्त देवताओं को अपने पराक्रम से आक्रान्त कर दिया। इसके पौरुष की महिमा से द्युलोक एवं पृथिवी-लोक काँप गये। यह आर्यों को अनार्यों के विरुद्ध युद्ध में सहायता प्रदान करके विजयी बनाता है। इसीलिए वह अपने अपूजकों और विरोधियों का वध करता है। इन्द्र अपने भक्तों की रक्षा एवं सहायता करता है। इन्द्र ने अस्थिर पृथिवी को स्थैर्य प्रदान किया। इधर-उधर उड़ते हुए पर्वतों का पङ्ख-छेदन करके उन्हें तत्तत् स्थानों पर प्रस्थापित किया। उसने द्युलोक को भी स्तब्ध किया है। इस प्रकार उसने अन्तरिक्ष का भी निर्माण किया है। दो मेघों या पत्थरों के मध्य से अग्नि को भी इन्द्र ने ही उत्पन्न किया है। उसने ही सूर्य एवं उषस् को भी उत्पन्न किया है। उसने बल का प्रदर्शन करते हुए अहि को मारकर सात नदियों को प्रवाहित होने के लिए उन्मुक्त किया है। इन्द्र ने भयवशात् पर्वतों में छिपे हुए शम्बर नामक असुर को ४०वें वर्ष में ढूँढ़ निकाला और उसका वध कर दिया। इन्द्र ने बल नामक राक्षस के बाड़े से गायों को बाहर निकाला था। स्वर्ग में चढ़ते हुए रौहिण नामक असुर को भी इन्द्र ने ही अपने शरु नामक वज्र से मार डाला था।

इन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य वृत्रवध है। वृत्रवध की गाथाओं से इन्द्र-सूक्त भरे पड़े हैं। इस गाथा के वर्णन से ऋषि अघाते नहीं। इन्द्र ने सोमरस का पान करने का तो मानो व्रत ही ले लिया है। सोम-लता को पीसने, निचोड़ने एवं पकाने वाले की वह रक्षा करता है। सोमरस के पान-कर्त्ता के रूप में इन्द्र वैदिक देवताओं में अपना उपमान नहीं रखता। अचल या अनश्वर पदार्थों को चल या नश्वर बनाना भी इन्द्र के ही वश में है। इसीलिए तो योद्धागण अपनी विजय के लिए इन्द्र का आवाहन करते हैं।

प्राकृतिक आधार—

अनेक वैदिक विद्वान् इन्द्र को प्रकाश का देवता मानकर उसको सूर्य के साथ समीकृत करते हैं। लोकमान्य तिलक वृत्र को हिम का प्रतीक मानते हैं जिसे इन्द्र अर्थात् सूर्य नष्ट करता है। उनके अनुसार आर्यों के आदि देश उत्तर-ध्रुव में शीतऋतु में सभी नदियों की धाराएँ जल के अभाव के कारण रुक जाती है। वसन्त का सूर्य ही बर्फों को पिघलाकर जलधाराओं को प्रवाहित करता है। भारतीय परम्परा भी बादलों के पारस्परिक टकराव से उत्पन्न प्रकाश (विद्युत्) को ही इन्द्र का वज्र स्वीकार करती है। चमक के कारण बादलों का क्षरण होता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि बादल इन्द्र के वज्र से आहत होकर आँसू गिराते हैं। ये बादल ही वृत्र हैं। आवरणार्थक 'वृञ्' धातु से निष्पन्न 'वृत्र' शब्द का अर्थ है आवरक या

आच्छादक। 'वृत्र' को मेघ मानने पर भी इन्द्र की सूर्यरूपता स्पष्टत: बनी रहती है।

अनेक स्थलों पर मरुतों की सहायता से इन्द्र द्वारा वृत्र-वध होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि सूर्य की गर्मी से मरुत् (वायु) गर्म होकर ऊपर उठता है, जिससे वर्षा होती है।

वेदों में 'गौ:' 'गाव:' इत्यादि शब्दों का अर्थ 'किरणें' भी हैं। सभी दिशाओं में इन्द्र अर्थात् सूर्य की ही किरणें व्याप्त हो रही हैं। 'पृथिवी एवं द्युलोक इन्द्र (= सूर्य) के प्रति झुक जाते हैं', इस कथन का भी तात्पर्य यही हो सकता है कि सूर्य के चारों ओर पृथिवी चक्कर लगाती है तथा द्युलोक भी सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह नि:सन्देह कहा जा सकता है कि वैदिक देवताओं में इन्द्र का स्थान सर्वोपरि हैं। इसीलिए परवर्ती साहित्य में इन्द्र को देवताओं का राजा माना गया है तथा अनेक पौराणिक ग्रन्थों में इन्द्र वर्षा कराने वाले देवता के रूप में विख्यात हैं।

२.१.२ सवितृ (सविता)

ऋग्वेद के द्युस्थानीय देवों में सविता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद के ग्यारह सूक्तों में इनकी स्तुति की गयी है। कुछ अन्य सूक्तों में कतिपय अन्य देवताओं के साथ भी सविता का स्तवन प्राप्त होता है। सविता शब्द 'सू' धातु से 'तृच्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है। 'सू' धातु 'प्रेरित करने' के अर्थ में होती है। अत: इस शब्द का अर्थ हुआ 'प्रेरक'। सविता के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं—

स्वरूप—

सविता स्वर्णमय देव हैं। इनके हाथ, जिह्वा, नेत्र सभी स्वर्णिम हैं। इनके केंश पीले रंग के हैं। ये स्वर्ण की कील वाले रथ पर चलते हैं। इनका रथ भी स्वर्णजटित है। इनके रथ को शुभ्रवर्ण वाले दो चमकीले अश्व खींचते हैं। इनके शरीर से निकलने वाली किरणें भी विचित्र रङ्गों ये युक्त हैं।

कार्य—

अन्धकारमय लोक से आते हुए सविता देव, देवों एवं मनुष्यों को अपने कार्यों में युक्त कराते हैं। रोगों को नष्ट करते हैं। सूर्य का पथ-प्रदर्शन करते हैं। सबको विविध रूपों में देखने वाले सविता देव द्युलोक एवं पृथिवी लोक के मध्यवर्ती स्थान में विचरण करते हैं। राक्षसों एवं मायावियों को नष्ट करते हुए सविता देव स्थित होते हैं। सविता देव जीवधारियों को मार्गप्रदर्शन करने वाले एवं अच्छी प्रकार से सुख प्रदान करने वाले देव हैं। इनका सर्वप्रधान कार्य रात्रिजनित अन्धकार को नष्ट करना एवं सभी जीवों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करना हैं। ये अपने भक्तों की रक्षा करके उनके लिए मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हुए उन्हें पापरहित बना देते हैं। पृथिवी की आठों दिशाओं, अन्तरिक्षादि तीन लोकों एवं सात नदियों को सविता देव विशेष रूप से प्रकाशित करते हैं। सविता को प्राण (शक्ति) देने वाला देव भी कहा गया है।

निवास-स्थान—

सविता देव का निवास स्थान द्युलोक है। ऋ. १/३५ के मन्त्र सं० ६ में एक विशेष तथ्य उद्घाटित किया गया है, जिसके अनुसार तीन लोक हैं, जिसमें से दो लोक सविता देव के समीप में स्थित हैं। प्रसिद्ध वेद भाष्यकार आचार्य सायण ने इसका अर्थ द्युलोक एवं भूलोक किया है जिसके कारण इन दोनों लोकों का सूर्य द्वारा प्रकाशित होना बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सवितृ देव का निवास-स्थान भले ही द्युलोक है, परन्तु वह अपना कार्यस्थल भूलोक को ही बनाये हैं। मानव-हितकारिणी चन्द्र नक्षत्रादि ज्योतियाँ एवं जल सवितृलोक में ही सविता के आधार पर स्थित हैं।

प्राकृतिक आधार—

सविता देव को सूर्य के साथ समीकृत किया गया है। वास्तव में उष:काल एवं सूर्योदय काल के मध्य सविता का आगमन होता है। प्रकाशित करने का कार्य सूर्य की सर्वप्रमुख विशेषता है, अत: सवितृ को भी सूर्य मान लिया गया है। ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों में सूर्य और सविता एक ही देवता के रूप में पुकारे गये हैं।

यद्यपि अनेक मन्त्रों में सविता को सूर्य से पृथक् माना गया है। जैसे..... अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥ (ऋ. १/३५/९) उपर्युक्त तथ्य पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सविता सूर्य का ही एक विशिष्ट अभिधान है, क्योंकि सूर्य ही विश्व के महान् प्रेरक हैं। वे ही सम्पूर्ण प्राणियों को अपने महान् आगमन के द्वारा प्रेरणा प्रदान करते हैं। सविता सूर्य की प्रेरकशक्ति के रूप में भी स्तुत हुए हैं। अत: स्पष्ट होता है कि सूर्य ही अपने पूर्णरूपेण उदय के पूर्व इस संज्ञा को प्राप्त करते हुए लोकप्रेरक बन जाते हैं। निरुक्तकार यास्क का स्पष्ट कथन है— (सविता सर्वस्य प्रसविता)।

देवों में स्थान—

वैदिक देवताओं में सविता देव उपासना की दृष्टि से अपना अद्वितीय महत्त्व रखते हैं। ऋग्वेद के अन्य किसी भी देवता की उपासना इतनी श्रद्धा और भक्ति से नहीं हो सकी है। वैदिक ऋषियों ने बुद्धि की प्रेरक शक्ति के रूप में एक अति शक्तिशाली मन्त्र का दर्शन किया है जिसे **गायत्री** मन्त्र के नाम से जाना जाता है। यह गायत्री मन्त्र पूज्य सविता देव की स्तुति रूप में है। इसमें सविता देव की शक्ति का आह्वान बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करने के उद्देश्य से किया गया है; **ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्। भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।**

आज इस वैज्ञानिक युग में भी सविता देव के इस मन्त्र की उपासना करके अनेकानेक भक्त अपना एवं जगत् का कल्याण कर रहे हैं। आधुनिक विज्ञान भी इस मन्त्र की रहस्यात्मिका शक्ति के अनुसन्धान में संलग्न होकर इसके ऊपर श्रद्धायुक्त बना हुआ है।

२.१.३. मरुत्

मरुत् अकेला देवता नहीं है, अपितु देवों के एक समूह का नाम मरुत् है। इसलिये इनका प्रयोग सदा बहुवचन में होता है। मरुतों की स्तुति ४२ सूक्तों में है। इनका ३३ सूक्तों में स्वतन्त्र रूप में, ७ सूक्तों में इन्द्र के साथ और एक-एक सूक्त में अग्नि और पूषा के साथ वर्णन किया गया हैं। मरुत देवता आँधियों के देवता हैं और वृष्टि कराते हैं। वे बड़े प्रभावशाली और शक्तिशाली हैं तथा इन्द्र के सहायक हैं। विपत्तियों से रक्षा करने के लिये और रोगों के निवारण के लिये ऋग्वेद में इनसे प्रार्थना की गई है।

सभी मरुद्गण समवयस्क हैं और एक साथ उदित होते हैं। ये रुद्र और पृश्नि के पुत्र कहे गये हैं। पृश्नि एक गौ का नाम है। एक स्थान पर मरुतों को वायु का पुत्र भी कहा गया है। मरुत् पृथिवी पर बढ़ते हैं और आकाश में पलते हैं। रोदसी इनके रथ पर विराजमान रहती है, जो कि सम्भवत: इनकी पत्नी हैं।

मरुतों की समृद्धि का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। ये स्वर्ण के समान स्वर्णिम और अग्नि के समान दीप्तिमान् हैं। इनकी तलवारें और भालें बिजलियों के समान चमकने हैं। इनके कुल्हाड़े और धनुष-बाण सुनहरे हैं। ये सुन्दर मालायें, सुनहरी चोगें, भूषण और शिरस्त्राण पहनते हैं। केयूर और वलय इनके आभूषण हैं। इनके रथ बिजलियों की तरह चमकते हैं, जिनमें मटियाली चितकबरी घोड़ियाँ जुती होती हैं।

मरुत् बड़े पराक्रमी देवता हैं। ये पहाड़ों को हिला देते हैं और द्युलोक एवं पृथिवी लोक इनके भय से काँपते हैं। ये सूर्य को ढक लेते हैं और वृक्षों को जङ्गली हाथियों के समान गिरा देते हैं। इन्द्र के ये विशेष सहायक हैं तथा वृत्र के वध के समय उसकी सहायता करते हैं और दैत्य का स्वयं भी संहार

करते हैं। वृत्र को मार कर वे गौओं का उद्धार करते हैं ये गायक भी हैं। इन्द्र दैत्यों का वध करने पर ये उसकी प्रशंसा के गीत गाते हैं तथा सोमरस निकालते हैं।

मरुतों को सामान्यत: आँधी एवं जल-प्रलय का देवता कहा गया है; परन्तु वे अपने भक्तों की रक्षा करते हैं और उनके रोगों का निवारण करते हैं। उनकी प्रधान औषधि जल है।

भौतिक आधार—

अश्विनों के भौतिक आधार के विषय में ऋषियों ने अत्यन्त अस्पष्ट भाषा का प्रयोग किया है। फलत: ये देवयुग्म किस भौतिक दृश्य के प्रतिरूप थे, इसका उचित तथा असन्दिग्ध निर्णय यास्क तथा अन्य भाष्यकारों के लिए भी कठिन हो गया। इसीलिए यास्क अनेक मतों को उद्धृत करते हैं। कतिपय आचार्यों के अनुसार अश्विनद्वय आकाश तथा पृथिवी थे। कुछ के अनुसार रात्रि तथा दिन एवं अन्य के अनुसार सूर्य तथा चन्द्र थे। ऐतिहासिको के अनुसार पुण्यकृत्ययुक्त दो राजा थे। रॉथ का विचार है कि यास्क इन दोनों को इन्द्र तथा सूर्य मानते थे, जबकि गोल्डस्टुक का कहना है कि यास्क अन्धकार तथा प्रकाश के मध्य की द्वैतयुक्त अवस्था मानते थे। हॉप्किंस के अनुसार ये देवयुग्म उष:काल के पूर्व उस मन्दप्रभ प्रकाश के प्रतिरूप हैं, जो अर्ध तमस् एवं अर्ध भास् से युक्त होता है। ओल्डेनबर्ग के अनुसार ये प्रात:कालिक एवं सायंकालिक तारों के, मैक्समूलर के अनुसार प्रात:काल एवं सायंकाल के, बेर्गाने के अनुसार स्वर्गाग्नि एवं वेद्यग्नि के, वोड्स्कोव् (Vodskov) के अनुसार वर्षा देने वाले एवं ओस देने वाले के, ब्रन्नहोफर् (Brunnhofer) के अनुसार प्रात:कालिक एवं सायंकालिक वायु के तथा वेबर के अनुसार जैमिनि तारामण्डल के उभय तारों के प्रतिरूप थे। इन सबके विपरीत गेल्डनर का यह मत है कि अश्विन् किसी भी भौतिक दृश्य के प्रतिरूप न होकर साहाय्य प्रदान करने वाले सन्तद्वय थे। अश्विनों के विषय में विद्यमान इस अनिश्चयता का एक प्रमुख कारण यह है कि ये निस्सन्देह एक प्रागैतिहासिक देव हैं। अत: ये अपने विकास-क्रम में इतने अधिक परिवर्तनों से ग्रस्त रहे हैं कि इनका मूलभूत भौतिक आधार विस्मृतप्राय हो चुका है।

माता-पिता—

ऋग्वेद में अश्विनों के एकाधिक माता-पिता का उल्लेख किया गया है। ये द्यौस् की सन्तान हैं। इनकी माता सिन्धु है। ये विवस्वान् तथा सरण्यू के भी पुत्र कह गये हैं। ये पूषा के पिता तथा उषा के भ्राता हैं। इनका मधुर तथा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध सूर्य की पुत्री सूर्या के साथ चित्रित किया गया है, जो इनकी पत्नी है।

स्थान—

अश्विनों के स्थान के रूप में द्युलोक, द्युलोक के समुद्र, अन्तरिक्षलोक, वायुलोक, वनस्पति तथा पर्वत के सर्वोच्च शिखर का उल्लेख किया गया है। इनका आविर्भाव उषा के प्रारम्भिक काल में होता है। ये दोनों अपने रथ के द्वारा उषा का अनुसरण करते हैं। ये भास्वर, युवा परन्तु पुरातन, शीघ्रगामी, अनेक रूप, सुन्दर, अरुण, शक्तिमान् तथा तीक्ष्ण मेधा-सम्पन्न हैं। 'नासत्य' तथा 'दस्र' इसके अत्यन्त प्रचलित विशेषण हैं। 'नासत्य' तो एक प्रकार से अश्विनों का पर्याय सा बन गया है।

अन्य देवताओं की तुलना में अश्विनों का मधु से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके रथ के वाहक पक्षी भी मधु से सिक्त होते हैं। अश्विन् मधु से पूर्ण एक चर्म को रखते हैं। इन्होंने एक बार मधु के शत कुम्भों को गिराया तथा मधु-मक्षिका को भी मधु प्रदान किया। इन्हें 'मधुयु' (मधु का अभिलाषी) तथा 'मधुपा' कहा गया है।

वाहन—

अश्विनों का प्रधान वाहन रथ है, जो पूर्णरूपेण स्वर्णिम है तथा ऋभुओं द्वारा निर्मित है। यह मन से भी अधिक त्वरित गति वाला है। इस रथ का वाहन प्राय: हंस या श्येन करते हैं, परन्तु कभी-कभी

अश्व भी करते हैं। यदा-कदा इस कार्य को ककुह (पंख-युक्त अश्व) तथा रासभ भी करते हैं। यह रथ द्युलोक तथा सूर्य की परिक्रमा करता है।

कार्य—

अश्विन् किसी भी प्रकार की आपत्ति में सद्यः सहायता प्रदान करने वाले अद्वितीय देवता के रूप में विख्यात हैं। ये असाध्य से असाध्य व्याधि को शीघ्र दूर कर देते हैं। इसीलिए इन्हें 'दिव्य भिषक्' कहा गया है। अन्धों, रुग्णों तथा पङ्गुओं की पूर्ण सहायता करते हैं। ये देवताओं तक के चिकित्सक हैं तथा इनकी अमरता को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ये अपने आराधकों को अपार धन तथा प्रचुर सन्तान प्रदान करते हैं।

ऋग्वेद अश्विनों के सहायताविषयक अनेक कथाओं का उल्लेख करता है। उदाहरणार्थ, इन्होंने ये वृद्ध तथा तिरस्कृत च्यवन को नव यौवन प्रदान करके अनेकों कुमारियों का पति बनाया, असहाय विमद के लिए अपने रथ के द्वारा पत्नी लाये, विश्वक के लिए उसके लुप्त पुत्र विष्णापू को लाये, सागर के मध्य भयंकर लहरों से आक्रान्त सुकुमार भुज्यु का उद्धार किये, रेभ, वन्दन, अत्रि आदि को गर्त से ऊपर निकाले तथा नपुंसकभर्तृका जाया को पुत्र प्रदान किये।

ऋग्वेद के ये अन्त्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता अश्विन्द्वय भी परवर्ती साहित्य पुराणों, महाकाव्यों इत्यादि में महत्त्वहीन हो जाते हैं।

२.१.४ विश्वामित्र-नदी-संवाद

ऋग्वेद में अनेक संवाद-सूक्त हैं जो कला की दृष्टि से मनोरम, सरस एवं भावपूर्ण हैं। ऐसे अनेक सूक्तों में कथोपकथन का प्राधान्य है और इसीलिए इन्हें संवाद की संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसे सूक्त समग्र ऋग्वेद में लगभग बीस हैं। इनके स्वरूप के विषय में पश्चिमी विद्वानों में गहरा मतभेद है। डाक्टर ओल्डेनवर्ग की पुष्टि में ये प्राचीन आख्यानों के अवशिष्ट रूप हैं। इनकी दृष्टि में ऋग्वेदीय आख्यान गद्यपद्यात्मक थे। पद्यभाग अधिक रोचक तथा मञ्जुल होने से अवशिष्ट रह गया है परन्तु गद्यभाग केवल कथात्मक होने से धीरे-धीरे लुप्त हो गया। डाक्टर श्रोदर आदि विद्वानों की दृष्टि में ये वस्तुतः नाटकों के अवशिष्ट अंश हैं। डाक्टर विन्टरनित्स इन्हें प्राचीन लोगगीत काव्य का नमूना मानते हैं। इन्हीं से अवान्तर काल में एक ओर महाकाव्य का उदय हुआ और दूसरी ओर नाटक की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार भारतीय साहित्य में इन संवाद-सूक्तों का पर्याप्त महत्त्व है।

इन संवादसूक्तों में विश्वामित्र-नदी-संवाद भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूक्त है। प्राचीन काल में विश्वामित्र पैजवन के राजा सुदास के पुरोहित हुए। वह पौरोहित्य से प्राप्त प्रचुर धन लेकर शकट से अपने घर लौटते हुए मार्ग में विषाट् (विपाशा) और शुतुद्री (सतलज) के तट पर पहुँचे। उनके पार जाने की इच्छावाले महर्षि विश्वामित्र उनकी स्तुति करते हुए कह रहे हैं कि— पर्वतों की गोद से निकलकर खुले लगाम वाली दो घोड़ियों की तरह विपाट् और शुतुद्री दो नदियाँ समुद्र की ओर जाने की इच्छा करती हुई प्रवाह से तेजी से बह रही हैं। ऐसी श्रेष्ठ नदी माता (शुतुद्री) के पास आया हूँ, चौड़ी तथा सुन्दर विपाट् के पास आया हूँ। बछड़े को चाटती हुई दो माताओं की तरह, एक ही स्थान समुद्र को लक्ष्य कर बहती हुई शुतुद्री और विपाट् के पास आया हूँ। इस प्रकार विश्वामित्र द्वारा स्तुत नदियाँ कहती है—

हम लोग देव इन्द्र के द्वारा निर्मित स्थान पर अपनी धारा से उमड़ती हुई बह रही है। हम लोगों की गति स्वाभाविक रूप से बहने के लिए है, रूकने के लिए नहीं। इस लिए किस इच्छा से ऋषि बार-बार नदियों की स्तुति कर रहा है। इस प्रर कुशिक-पुत्र विश्वामित्र अपनी रक्षा के लिए सोमयुक्त वचनों के द्वारा नदियों को क्षणभर रुकने की बार-बार स्तुति कर रहे हैं। वज्रहस्त इन्द्र ने नदियों को घेरने वाले वृत्र को मारकर बहने के लिए हमें बाहर निकाला। इन्द्र के पराक्रमयुक्त कार्य, जो उसने अहि,को मारा, अवश्य कहने योग्य है। इस कथन को विश्वामित्र नदियों से कहते हैं। इसपर नदियाँ उत्तर देती है— हे स्तुतिगायक!

इस वचन को कभी भी मत भूलो, ताकि भावी युगों के लोग तुम्हारे इस वचन को सुन सकें। हे ऋषि! अपनी स्तुतियों के द्वारा हमारा आदर करो तथा हमें मनुष्यों की कोटि में नीचे मत लावो। हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। इस पर विश्वामित्र नदियों को बहन सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे सुन्दर बहनों मुझ कवि की बात सुनों, क्योंकि तुम्हारे पास मैं बहुत दूर से गाड़ी तथा रथ से आया हूँ। अच्छी प्रकार झुक जाओ। हे नदियो! अपनी जलधारा से अच्छ के नीचे होकर बहती हुई आसानी से पार करने योग्य हो जाओ। ऋषि विश्वामित्र की प्रार्थना सुनकर नदियाँ नीचे झुक जाती है। इस पर विश्वामित्र नदियों का समर्थन चाहते हुए अपने परिजनों के साथ नदियों को पार कर रहे हैं। पार करने के उपरान्त नदियों को अपनी जगह पर पुन: प्रवाहित होने के लिए कहते हैं।

इस प्रकार यह समग्र संवाद सूक्त नाटकीय ओजस्विता से ओत-प्रोत है और कलात्मक दृष्टि से नितान्त सुन्दर, सरस तथा भावोत्पादक है।

२.१.५ अग्नि

वैदिक देवताओं में अग्नि अत्यन्त महत्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के लगभग २०० सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। अग्नि के सम्बन्ध में कतिपय मुख्य तथ्य इस प्रकार है—

ऋग्वेद में स्थान—

ऋक्संहिता का प्रथम मन्त्र अग्नि देवता को ही सम्बोधित किया गया है तथा प्रथम पद भी 'अग्निम्' ही है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वैदिक देवताओं में अग्नि प्रधान देवता हैं। अग्नि का अर्थ है— वह देव जो यज्ञ में प्रदान की गयी हवि को देवताओं तक पहुँचाता है। ऋग्वेद के तीन प्रमुख देवताओं में अग्नि का द्वितीय स्थान है। ऋग्वेद के २०० सम्पूर्ण सूक्तों के अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ अग्नि की स्तुति की गयी है। प्राय: ऋग्वेद के सभी मण्डलों में प्रारम्भिक सूक्त अग्नि को ही सम्बोधित किये गये हैं।

अग्नि शब्द की निरुक्ति—

अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति 'अज्' धातु से सम्भावित है, फलत: इसका अर्थ गतिमान् होता है। निरुक्तकार यास्क अग्नि शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि अग्नि अग्रणी होता है, यज्ञों में सबसे अग्र (प्रथम) वह ले जाया जाता है। अथवा तृण या काष्ठ आदि को अपना अङ्ग बना लेता है। बृहद्देवताकार शौनक यास्क का ही अनुसरण करते हुए अग्नि का निर्वचन प्रस्तुत करते हैं। स्थौलाष्ठीवि नामक आचार्य के अनुसार यह अक्नोपन होने के कारण स्निग्ध नहीं करता है, अर्थात् सब रसों को शुष्क कर देता है या रुक्ष कर देता है। अतएव अग्नि नाम से अभिहित होता है। शाकपूणि नामक आचार्य का मत है कि अग्नि शब्द 'इण्', 'अञ्जू' या 'दह्' और 'णीञ्' इन तीन धातुओं से निष्पन्न हुआ है। 'इण्' से अकार तथा 'अञ्जू' या 'दह्' से गकार को लेकर 'णीञ्' (नी) में मिला देने पर 'अग्नि' शब्द निष्पन्न हो जाता है।

उत्पत्ति—

अप्, उषस्, त्वष्टा, द्यावापृथिवी और विष्णु को अग्नि का उद्भावक कहा गया है, वह दो अरणियों के संघर्ष से उत्पन्न होता है। अरणियों में ऊपर वाली अरणि को पति और नीचे वाली अरणि को पत्नी कहा गया है, जिनके संयोग से शिशुवत् अग्नि की उत्पत्ति होती है। अग्नि को दस युवतियों से भी उत्पन्न कहा गया है। ये दस युवतियाँ मनुष्य के हाथों की दसों अङ्गुलियाँ ही हैं। अग्नि को 'सहस: पुत्र' भी कहा गया है क्योंकि अग्नि को उत्पन्न करने के लिए सहस् (शक्ति) भी लगानी पड़ती है।

स्वरूप—

अग्नि का धर्म है प्रकाशित होना। वह अङ्गारमय है, प्रकाशमय है (अङ्गिरा, राजन्तम्) ऋग्वेद में

अग्नि को घृत-पृष्ठ, घृत-प्रतीक, घृत-लोम, मद्रजिह्व, शौचिषकोश आदि भी कहा गया है। वे भास्वर ज्वलाओं वाले हैं। उनका वर्ण भास्वर है। वे हिरण्यरूप हैं। वे सूर्य की भाँति चमकते हैं। उनकी प्रभा उषा, सूर्य एवं विद्युत जैसी है।

कार्य—

अग्नि यज्ञ में देवताओं को बुलाता है। वह उत्तम धनादिकों का प्रदाता है। अग्नि के माध्यम से यजमान को पुष्टि यश और वीर पौत्रादि की प्राप्ति होती है। यह यज्ञों का रक्षक और सत्य का प्रकाशक है। कर्मफल को प्रदान करना भी अग्नि का ही कर्म है। अग्नि स्वयं प्रकाशवान् होने से रात्रि को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र के लिए कल्याण-भावना रखता है, उसी प्रकार अग्नि भी कल्याणकारी है। अग्नि यज्ञ के प्रत्येक रहस्य को जानता है, इसीलिए जातवेदस् भी कहा गया है। जिस प्रकार ऋतु और युद्धकर्म इन्द्र के अधीन हैं उसी प्रकार आर्यों के सारे गृहकृत्य अग्नि के अधीन हैं। अग्नि के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि जिस यज्ञकर्म का साक्षी अग्नि होता है, केवल उसका ही फल देवताओं के पास पहुँचता है।

प्राकृतिक आधार—

अग्नि का प्राकृतिक आधार स्पष्ट है। हमारे सम्मुख अग्नि के मुख्यत: तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं— काठों से उत्पन्न दावाग्नि, जलों से उत्पन्न वाडवाग्नि एवं द्युलोक से उत्पन्न वैद्युताग्नि। ये अग्नि के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। यद्यपि जलों के सङ्घर्षण से अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती तथापि वडवाग्नि को ही सम्भवत: अप् से प्रादुर्भूत अग्नि माना गया है। आधुनिक युग में विद्युत शक्ति की उत्पत्ति भी जलों के द्वारा की जाती है। बादलों के पारस्परिक टकराव से उत्पन्न आकाशीय विद्युत भी तो जलों से ही उत्पन्न मानी जा सकती है क्योंकि बादल भी जलों के ही रूप हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है कि वैदिक अग्नि देवता का प्राकृतिक आधार भी अग्नि के उपर्युक्त रूप ही है।

मानव जीवन से सम्बन्ध—

अग्नि का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्पूर्ण गृहकृत्य के लिए अग्नि की महती आवश्यकता है। प्रत्येक घर में उसका निवास है। अग्नि ही एक ऐसा देवता है जो मनुष्य के जन्म से मृत्युपर्यन्त उसका साथ देता है। अग्नि के माध्यम से ही इस संसार में प्रकाश का जन्म हुआ है। वैदिक युग में ऋषियों के समक्ष अग्नि की उपादेयता सर्वाधिक सिद्ध हुई। इसका मुख्य कारण यह है कि अग्नि की सहायता से ही यज्ञानुष्ठान, भोजन-पाक तथा शीत इत्यादि से रक्षा हो जाती है।

इसलिए वैदिक ऋषि अग्निदेव से अपने उन्नति एवं कल्याण की प्रार्थना करता है।

२.१.६ अक्ष

ऋग्वेद संहिता में जहाँ एक ओर देवताओं की स्तुति करते हुए उनसे अभीष्ट की प्राप्ति के लिए याचनाएँ की गयी हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों एवं मानवीय दुर्व्यसनों को दूर करने से सम्बन्धित सूक्तों का सङ्कलन भी किया गया है। समाज में जब भोग-विलास और शक्ति का उदय होता है, तब द्यूतकर्म भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। ऋग्वैदिक युग में जुआ खेलना एक बहुप्रचलित सामाजिक दुर्व्यसन था। ऋग्वेद के दशम मण्डल का ३४वाँ सूक्त इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालता है।

अक्षों की संख्या एवं खेलने का स्थान—

ऋग्वेद में अक्षों की संख्या के लिए 'त्रिपञ्चाश:' शब्द प्रयुक्त है। विद्वानों ने इस शब्द के अनेक अर्थ किये हैं— जैसे- पन्द्रह, तिरपन एवं एक सौ पच्चीस। परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों में पासा फेंकने से सम्बन्धित व्याहृतियों की तालिकाएँ प्राप्त होती हैं। पासा फेंकने के लिए भूमि पर ही एक नीचा

सा स्थान बना लिया जाता था। दाँव पर रखी हुई वस्तु 'विज' कहलाती थी।

अक्षों का स्वरूप एवं प्रभाव—

अक्षों को द्यूतकार देवता मानता है। उसके हृदय में अक्षों के प्रति वही श्रद्धा है जो शिल्पकार को अपने उपकरणों में, लेखक को अपनी लेखनी में तथा वणिक् को अपनी तुला में होती है। अक्ष किसी वृक्ष के फलों के बीजरूपी विग्रह वाले होते हैं। इनका रंग भूरा होता है। अक्षों को किसी पात्र-विशेष में डालकर भली-भाँति हिलाकर द्यूतपटल पर फेंका जाता है। द्यूतपटल पर फुदकते हुए वे अक्ष बड़े ही मनोहारी दिखलायी पड़ते हैं। अक्षों को दिव्य अङ्गार-स्वरूप एवं महाशक्तिशाली कहा गया है।

अक्ष द्यूतकार को उसी प्रकार आनन्दित करते हैं जैसे सोमरस देवताओं को। ये द्यूतकार को जगाने का कार्य भी करते हैं। द्यूतकार चिन्ता के वशीभूत होकर रात भर जागता रहता है। अक्षों के अन्दर एक प्रकार की मोहिनी शक्ति होती है। द्यूतकार इसी मोहिनी शक्ति के वश में रहता है। द्यूतकार अनेक बार द्यूतकार्य से विमुख होने का निश्चय करके भी ज्यों ही द्यूतपटल पर पासों को फुदकते हुए देखता है त्यों ही अपने सङ्कल्प को भूल जाता है। अक्षगण कभी भी उग्र से उग्र व्यक्ति के समक्ष भी पराजय को नहीं स्वीकारते। अक्षों की ध्वनि को द्यूतपटल पर सुनकर जुआरी उसी प्रकार द्यूतस्थल की ओर दौड़ पड़ता है जैसे कुलटा स्त्री संकेत-स्थल की ओर दौड़ पड़ती है।

अक्षों की विलक्षणता—

द्यूतपटल पर पड़े हुए भी अक्ष द्यूतकार के मर्मस्थल को भेदने वाले होते हैं। स्वयं दन्तविहीन होकर भी सहस्र द्यूतकार को पराभूत करते रहते हैं। शीतल स्पर्श वाले होकर भी द्यूतकार के हृदय को जलाते रहते हैं। स्वरूप से काष्ठवत् होते हुए भी अक्ष किसी द्यूतकार को क्षणमात्र के लिए बसा देते हैं तथा किसी को उजाड़ देते हैं। विजेता द्यूतकार के लिए वे प्रसन्नतादायक तथा पराजित के लिए दुःखप्रद भी होते हैं।

द्यूतक्रीड़ा का कुपरिणाम—

द्यूतकार व्यक्ति को समाज निकृष्ट कोटि का व्यक्ति समझने लगता है। द्यूतकार की पत्नी, सास तथा अन्य शुभाकांक्षी व्यक्ति उससे द्वेष करते हैं। द्यूतकार के प्रति कोई भी व्यक्ति दया-भाव नहीं दिखलाता। द्यूतकार एक बूढ़े किन्तु मूल्यवान् अश्व की भाँति किसी के लिए प्रिय नहीं रह पाता। द्यूतकार अनुकूल आचरण वाली अपनी पतिपरायणा पत्नी तक को दाँव पर हार जाता है। दूसरों की पत्नियों को देखकर तथा सुसंस्कृत आवास-गृहों को देखकर वह मानसिक क्लेश पाता है। द्यूतकार्य का सबसे कठिन दुष्परिणाम तो यह होता है कि उसकी प्राणप्रिया पत्नी को दूसरे लोग आलिङ्गित करते हैं। जब दाँव हारकर द्यूतकार विजेता द्यूतकार को दाँव पर रक्खी हुई सम्पत्ति नहीं चुका पाता तो राजा के कर्मचारी उसे रज्जुबद्ध करके ले जाते हैं। उस समय उसके मित्र, पिता, माता, भाई उसको देखना पसन्द नहीं करते तथा यह भी कह डालते हैं कि हम लोग बँधे हुए इसको नहीं जानतें।

अमर संदेश—

अक्षसूक्त के अधिकांश भाग में द्यूतकार्य के दुष्परिणामों को बतलाकर वैदिक ऋषि एक अमर सन्देश प्रदान करता है कि अक्षों से कभी भी मत खेलो, खेती करो। कृषि द्वारा प्राप्त धन को ही आदर-भाव से अपना समझो तथा उसमें ही आनन्द का अनुभव करो। कृषि-कार्य में ही गायें हैं, पालतू पशु हैं तथा सम्पूर्ण समृद्धि है।

हे अक्षों ! हमसे मित्रता करो। अपनी मोहिनी शक्ति का प्रयोग हम पर मत करो तथा सदैव हमारी सहायता करो।

२.१.७ राष्ट्राभिवर्धनम्

वैदिक साहित्य में अथर्ववेद का स्थान बड़ा ही अनुपम है। जहाँ अन्य वेद देवताओं की स्तुति को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं, वहाँ अथर्ववेद भौतिक विषयों के भी वर्णन में अपने को कृतकार्य मानता है। इस सन्दर्भ में पृथिवी सूक्त, रक्षा सूक्त आदि अनेक सूक्त हैं। राष्ट्राभिवर्धनम् सूक्त का भी एक विशिष्ट स्थान है। इसमें राष्ट्र की सुख-समृद्धि के लिए ऋषि प्रार्थना करते हुए कहता है कि हे ब्रह्मणस्पति चारों ओर घूमने वाली मणि जिससे इन्द्र बड़ा हुआ उसमें हम लोगों को राष्ट्र की समृद्धि के लिए बढ़ाओं। हमारे विपक्षियों को जो हमें कुछ नहीं देने वाले हैं तथा हमसे युद्ध की इच्छा करने वाले हैं तथा दुर्व्यवहार करने वाले हैं उनको हमसे पराजित करो। पुनः ऋषि कहता है कि हे मणि सवितृ देव ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है, सोम ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है, सम्पूर्ण प्राणियों ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है ताकि तुम चारों तरफ घूमकर रक्षा करने वाले बने रहो। इस प्रकार चारों तरफ घूमने वाली, विपक्षियों को पराजित करने वाली तथा उनका संहार करने वाली मणि, राष्ट्र की समृद्धि के लिए मेरे में बँधे। जिस प्रकार सूर्य नभोमण्डल में ऊपर चला गया है, मेरा यह मन्त्र भी ऊपर गया है ताकि में शत्रुओं को मारने वाला, प्रतिद्वन्द्विरहित तथा प्रतिद्वन्द्वियों को मारने वाला होऊँ। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करने वाला, प्रजाओं की इच्छा को पूर्ण करने वाला, राष्ट्र को सामर्थ्य से प्राप्त करने वाला तथा जीतने वाला (होऊँ) ताकि मैं शत्रुपक्ष के इन वीरों का तथा अपने एवं पराये लोगों का शासक बनूँ। इस प्रकार राष्ट्राभिवर्धनम् सूक्त का अथर्ववेद में विशिष्ट महत्त्व है।

२.१.८. पृथिवी

पृथिवी-सूक्त अथर्ववेद में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सूक्त में पृथिवी के स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता पर विशद विवेचन किया गया है।

पृथिवी की उत्पत्ति एवं प्राकृतिक स्वरूप— उत्पत्ति से पूर्व पृथिवी की सत्ता समुद्र में जल के भीतर थी। विद्वान् (मनीषी) लोगों ने उसे अपने पराक्रम से प्राप्त किया। पृथिवी का सत्य से आवृत एवं अनश्वर हृदय परम व्योम में स्थित है। पृथिवी का कुछ भाग जलमय है तथा कुछ स्थलमय। उसमें बाधारहित ऊँचे, नीचे तथा समतल भाग हैं। इसी पृथिवी पर समुद्र, नदियाँ तथा अनेक जलाशय भी स्थित हैं। पृथिवी पर झरने भी प्रवाहित होते रहते हैं। इसमें श्वास लेने वाले एवं गतिशील प्राणी आनन्दपूर्वक रहते हैं। पृथिवी पर ही चारों दिशाएँ हैं, अन्न हैं एवं अनेक कृषक जन हैं। यह पृथिवी, भूरी, काली एवं लाल वर्णों वाली तथा अचल है।

पृथिवी से सम्बन्धित पुराकथाएँ— विष्णु ने इसी पृथिवी को अपने तीन डगों में नापा था। दोनों अश्विनीकुमारों ने भी इसे नापा है। अश्विनीकुमारों से तात्पर्य है— सूर्योदय के पूर्व एवं सूर्यास्त के बाद का सन्धिकाल। इन दोनों सन्धिकालों के मध्य पृथिवी प्रकाशित रहती है। विष्णु द्वारा पृथिवी को नापा जाना रूप क्रिया का तात्पर्य है सूर्य द्वारा पृथिवी को प्रकाशित करना। इन्द्र ने भी पृथिवी को शत्रु-रहित कर दिया है। इस पृथिवी पर हमारे पूर्वजों ने अनेक-विध पराक्रमयुक्त कार्य किये हैं।

उपकारिता एवं दानशीलता— पृथिवी प्राणिमात्र को अपना अमृततुल्य जल उसी भाँति प्रदान करती है जैसे माता अपने पुत्र को दुग्ध प्रदान करती रहती है। पृथिवी हमारे लिए उसी प्रकार धन प्रदान करती है जैसे गाय दुग्ध दान करती है। वह सबका समान रूपेण उपकार करने वाली है। माँ जिस प्रकार अच्छे-बुरे सभी बच्चों को प्यार करती है उसी प्रकार पृथिवी भी बिना किसी भेद-भाव के सभी जीवों को धन, अन्न इत्यादि प्रदान करती है। विविध धर्मावलम्बी, विभिन्न भाषाभाषी, अपनी इच्छानुसार आवासगृह बना कर रहने वाले सभी लोगों को धारण करती है। लोग उसके सौजन्य के कारण ही पृथिवी से गाय, अश्व, पक्षी, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य एवं वर्चस्विता की याचना करते हैं।

पृथिवी के धारक तत्त्व— समाज में निरन्तर अच्छाइयाँ एवं बुराइयाँ दोनों ही विद्यमान रहती हैं। परन्तु पृथिवी को सत्य, ऋत, महनीयता, उग्रता, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ धारण किये हुए हैं, अर्थात् पृथिवी पर जब तक उपर्युक्त गुणों की सत्ता बनी रहेगी तब तक पृथिवी टिकी रहेगी अन्यथा वह जलमग्न हो सकती है।

पृथिवी से विविध प्रार्थनाएँ— वैदिक ऋषियों ने पृथिवी से लोकों को विस्तृत करने के लिए तथा समृद्धि प्रदान करने के लिए विविध प्रकार से प्रार्थनाएँ की हैं। गौवों और अन्नों को प्रदान करने के लिए, वर्चस्व के लिए तथा जल और तेजस्विता से सम्पृक्त करने के लिए विविध प्रकार की प्रार्थनाएँ भी की गयी हैं।

अन्त में ऋषि पृथिवी से प्रार्थना करता है कि हे पृथिवी ! मेरे लिए तुम उसी प्रकार भूमि विस्तृत कर दो जैसे माता पुत्र के लिए दूध प्रदान करती है।

२.२ सम्बन्धित प्रश्न

(१) वरुण देवता का परिचय दीजिए?

(२) इन्द्र देवता का परिचय दीजिए?

(३) अग्निदेवता का स्वरूप निर्धारित कीजिए?

(४) विश्वामित्रनदीसंवाद सूक्त तथा राष्ट्राभिवर्धन सूक्त की समीक्षा कीजिए?

(५) पृथिवी की महत्ता पर प्रकाश डालिए?

(६) निम्नलिखित सभी प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

(क) पृथिवी का वर्णन किस वेद में हुआ है?

(ख) पराक्रम का देवता कौन है?

(ग) ऋग्वेद में सर्वाधिक मन्त्र किस देवता के लिए प्रयुक्त हुए हैं?

(घ) सवितृ किस लोक का देवता है?

(ङ) अक्षसूक्त किस वेद में वर्णित है?

इकाई- ३ : वैदिक व्याकरण

इकाई की रूपरेखा

३.० उद्देश्य

३.१ वैदिक-ध्वनियाँ

- ३.१.१ स्वर
- ३.१.२ व्यञ्जन
- ३.१.३ यम ध्वनियाँ
- ३.१.४ अघोष एवं सघोष ध्वनियाँ
- ३.१.५ अल्पप्राण तथा मद्यप्राण ध्वनियाँ
- ३.१.६ जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय
- ३.१.७ स्वरभक्ति

३.२ ध्वनियों के भेद

- ३.२.१ काल के आधार पर स्वरों के भेद
- ३.२.२ स्थान के आधार पर ध्वनियों का विभाजन

३.३ वैदिक संधियाँ

- ३.३.१ प्रश्लिष्ट सन्धि
- ३.३.२ क्षैप्रसन्धि
- ३.३.३ अभिनिहित सन्धि
- ३.३.४ भुग्न सन्धि
- ३.३.५ उद्ग्राह सन्धि
- ३.३.६ पादवृत्त सन्धि

३.४ व्यञ्जन - सन्धियाँ

- ३.४.१ अवशंगम सन्धि
- ३.४.२ वशंगम सन्धि
- ३.४.३ परिपन्न सन्धि
- ३.४.४ आन्-पद पदवृत्ति सन्धि

३.५ विसर्ग सन्धि

- ३.५.१ प्रश्रित - सन्धि
- ३.५.२ उदग्राह पदवृत्ति सन्धि
- ३.५.३ नियत सन्धि
- ३.५.४ अकाम सन्धि
- ३.५.५ उपाचरित सन्धि

३.५.६ रेफ सन्धि
३.६ वैदिक शब्द रूप
३.७ वैदिक धातुरूप
३.८ वैदिक प्रत्यय
३.८.१ पूर्वकालिक क्रिया-रूप
३.८.२ तुमर्थक प्रत्यय
३.८.३ कृदन्त प्रत्यय
३.८.४ तद्धित प्रत्यय
३.९ क्रिया-विशेषण तथा अव्यय
३.१० वैदिक उपसर्ग
३.११ वैदिक स्वर
३.११.१ स्वरों की संख्या
३.११.२ उदात्तादि स्वरों का परिचय
३.११.३ स्वरित के भेद
३.११.४ स्वराङ्कन पद्धति
३.१२ सम्बन्धित प्रश्न

३.० उद्देश्य

इस यूनिट में सङ्क्षेप में वैदिक-व्याकरण का ज्ञान दिया जायेगा।

३.१ वैदिक-ध्वनियाँ

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में कुल अधोलिखित वर्णों की सत्ता प्राप्त होती है।

३.१.१ स्वर

अ, आ, आ३; इ, ई, ई३; उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ३, ऌ, ॡ, ॡ३; ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३।

३.१.२ व्यञ्जन

क्, ख्, ग्, घ्, ङ् (कवर्ण)
च्, छ्, ज्, झ्, ञ् (चवर्ग)
ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् (टवर्ग)
त्, थ्, द्, ध्, न् (तवर्ग)
प्, फ्, ब्, भ्, म् (पवर्ग)

य् र् ल् व् (अन्तःस्थ) श् ष् स् ह् (ऊष्म)ऽक ऽख (जिह्वामूलीय)ऽप, ऽफ (उपध्मानीय) अं (अनुस्वार) अँ (अनुनासिक) कँ, खँ, गँ, घँ, (यम)। स्वरभक्ति; ळ्, ळ्ह (उत्क्षिप्त मूर्धन्य) अः

(विसर्जनीय), हुँ (नासिक्य)।

उपर्युक्त ध्वनियों का परिगणन प्रातिशाख्यों के आधार पर किया गया है। इनमें उन सभी ध्वनियों की गणना की गयी है, जो किसी भी वैदिक ग्रन्थ में ध्वनि के रूप में उच्चारित होती हैं। 'अ' से औ३ तक २३ स्वर हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी वर्ण व्यञ्जन कहलाते हैं। व्यञ्जनों में क् से म् तक २५ वर्ण 'स्पर्श', य् से व् तक चार वर्ण 'अन्तःस्था', श् से ह् तक चार वर्ण 'ऊष्म', तथा इसी क्रम में दो 'जिह्वामूलीय', एक 'अनुनासिक', चार 'यम' एक 'स्वरभक्ति' (जिसका कोई लेखन-चिह्न नहीं होता) है।

'ळ्' तथा 'ळ्ह्' ये दोनों वर्ण लौकिक संस्कृत भाषा में नहीं पाये जाते; परन्तु वैदिक भाषा में इनकी सत्ता है। आचार्य वेदमित्र के अनुसार जब दो स्वर-वर्णों के मध्य मे 'ड्' का उच्चारण किया जाता है तब वही 'ड्' 'ळ्' का रूप ग्रहण कर लेता है तथा जब 'ढ्' वर्ण दो स्वरों के मध्य उच्चारित होता है तब 'ळ्ह्' के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

३.१.३ यम ध्वनियाँ

जब अपञ्चमस्पर्श के बाद पञ्चमस्पर्श आता है, तब दोनों ध्वनियों के मध्य अपञ्चमस्पर्श से प्रभावित एक अतिरिक्त अनुनासिक ध्वनि का आगम हो जाता है, इसे 'यम' कहते हैं। अनुनासिक स्पर्श वर्णों की संख्या २० है अतः यमध्वनियाँ भी बीस होती हैं जिन्हें ४ भागों में विभक्त किया गया है– ङँ् ञँ् णँ् और नँ्। ङँ् अघोष अल्पप्राण यमध्वनियों (ङँ् चँ् टँ् तँ् पँ्) का, ञँ् अघोषमहाप्राण यमध्वनियों (ञँ् छँ् ठँ् थँ् फँ्) का, णँ् सघोष अल्पप्राण यमध्वनियों (णँ् जँ् ढँ् दँ् बँ्) का तथा नँ् सघोष महाप्राण यमध्वनियों (नँ् झँ् ढँ् धँ् मँ्) का प्रतिनिधित्व करता है। जैसे पलिक्नी = पलिक्ङ्नीं, जघ्नतुः = 'जघ्ँनतुः'। यहाँ पर 'ङ्ँ' तथा 'घ्ँ' ध्वनियाँ अतिरिक्त आगम स्वरूप उच्चरित होती हैं, यही ध्वनियाँ 'यम' कहलाती हैं।

३.१.४. अघोष एवं सघोष ध्वनियाँ

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के अनुसार स्पर्श व्यञ्जनों में प्रत्येक वर्ग के प्रथम एवं द्वितीय व्यञ्जन हकार व्यतिरिक्त ऊष्म अघोष हैं तथा शेष व्यञ्जन और सभी स्वर ध्वनियाँ सघोष हैं।

३.१.५ अल्पप्राण तथा महाप्राण ध्वनियाँ

प्रत्येक वर्ग के प्रथम, तृतीय, पञ्चम वर्ण तथा य्, व्, र्, ल् अल्पप्राण हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी व्यञ्जन महाप्राण कहलाते हैं।

३.१.६ जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय

'क' तथा 'ख' वर्णों के पूर्व यदि विसर्ग (:) का उच्चारण होता है, तब विसर्ग जिह्वामूलीय कहलाता है। तथा 'प' एवं 'फ' ध्वनियों से पूर्व यदि विसर्ग का उच्चारण होता है तब विसर्ग उपध्मानीय कहलाता है। इन ध्वनियों को इस प्रकार लिखने की परम्परा प्राचीनकाल में थी, जो अब प्रायः लुप्त हो गयी है— 'रामः करोति', 'रामः खादति में, क, ख जिह्वामूलीय तथा सः पठति, वृक्षः फलति में, प, फ उपध्मानीय हैं। ध्यातव्य है कि जिह्वामूलीय तथा उपध्यानीय संज्ञाएँ विसर्ग ध्वनि की ही होती हैं, जिन्हें प्राचीन ग्रंथों में ५ के रूप में प्रदर्शित करने की प्रथा थी।

३.१.७ स्वरभक्ति

स्वर से बाद 'र्'-या 'ल्' वर्ण होने पर तथा उन रेफ और लकार से बाद में ऊष्म-वर्ण होने पर 'र्' या 'ल्' तथा ऊष्म वर्ण के मध्य एक अतिरिक्त स्वर-ध्वनि का आगम होता है। यह आगम-ध्वनि 'र्' के बाद 'ऋ' के सदृश तथा 'ल्' के बाद 'ऌ' के सदृश श्रुतिगोचर होती है। प्रायः ऊष्म वर्णों में हकार एवं शकार बाद में होने पर ही स्वरभक्ति के उदाहरण वेदों में प्राप्त होते हैं, जैसे कर्हि = (कर्ऋहि) शतवल्शः = (शतवल्ऌशः)। यहाँ पर 'ऋ' तथा 'ऌ' ध्वनियाँ स्वरभक्ति के रूप में आयी हुई हैं।

३.२. ध्वनियों के भेद

स्वर वर्ण दो प्रकार के होते हैं—

१. समानाक्षर— अ, इ, उ, ऋ एवं ऌ स्वर अपने सभी भेदों (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत) सहित समानाक्षर कहलाते हैं।

२. सन्ध्यक्षर— ए, ओ, ऐ, और औ स्वर अपने सभी (दीर्घ एवं प्लुत) भेदों सहित सन्ध्यक्षर कहलाते हैं। दो स्वरों के मेल से उत्पन्न होने के कारण ये सन्ध्यक्षर कहे जाते हैं। अ + इ = ए, अ + उ = ओ, अ + ए = ऐ तथा अ + ओ = औ।

३.२.१ काल के आधार पर स्वरों के भेद

मात्रा (उच्चारण में लगने वाले काल) की दृष्टि से स्वर तीन प्रकार के होते हैं—

१. ह्रस्व – जिनके उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है, जैसे– अ, इ, उ, ऋ,ऌ।

२. दीर्घ – जिनके उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता हैं, जैसे– आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ओ, ऐ, औ।

३. प्लुत – जिनके उच्चारण में कम से कम ३ मात्रा का समय लगता है, जैसे– आ३, ई३, ऊ३, ऋ३, ऌ३, ए३, औ३। प्लुत स्वर को दीर्घ स्वर से बाद '३' संख्या लिखकर प्रदर्शित किया जाता हैं।

३.२.२ स्थान के आधार पर ध्वनियों का विभाजन

१. कण्ठ्य— सभी प्रकार के अ, हकार तथा विसर्जनीय कण्ठ से उच्चारित होने के कारण कण्ठ्य कहलाते हैं। कतिपय आचार्य हकार तथा विसर्जनीय को औरस्य (उरस् से उच्चारित) मानते हैं।

२. जिह्वामूलीय— ऋ०प्रा० के अनुसार सभी प्रकार के ऋ ऌ ५ क ५ ख तथा कवर्ग के स्पर्श जिह्वा मूल से उच्चरित होने से जिह्वामूलीय हैं।

३. तालव्य— सभी प्रकार के इ, ए, ऐ यकार, शकार तथा चवर्ग वाले स्पर्श तालुस्थान से उच्चरित होने के कारण तालव्य कहे जाते हैं।

४. मूर्धन्य— टवर्गीय स्पर्श, षकार, ळ, ह्ळ मूर्धा से उच्चरित होने के कारण मूर्धन्य कहलाते हैं।

५. दन्तमूलीय— तवर्ग वाले स्पर्श, स्, र्, ल ये दन्तमूल से उच्चरित होने के कारण दन्त्य या दन्तमूलीय है।

६. ओष्ठ्य— सभी प्रकार वाले उकार, ओकार, औकार, पवर्गीय स्पर्श, वकार तथा ५ प् ५ फ् ओष्ठस्थान से उच्चारित होने के कारण ओष्ठ्य कहलाते हैं।

७. नासिक्य— नासिक्य तथा यम ध्वनियाँ नासिका से उच्चरित होने से नासिक्य कहलाती हैं।

८. अनुनासिक— मुख और नासिका दोनों से उच्चारत होने वाली ङ् ञ् ण्, न् म् ध्वनियाँ अनुनासिक कहलाती हैं।

३.३ वैदिक सन्धियाँ

वैदिकभाषा में सन्धियाँ प्राय: लौकिकसंस्कृत की सन्धियों के सदृश ही हैं, किन्तु वेदों में यत्र-तत्र कतिपय विभिन्नताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में सन्धियों के नाम लौकिकभाषा की सन्धियों से भिन्न हैं। यहाँ पर कतिपय प्रमुख सन्धियों का परिचय संक्षेप में दिया जा रहा है—

३.३.१ प्रश्लिष्ट सन्धि—

लौकिकभाषा की स्वर-सन्धियों में दीर्घ, 'गुण' तथा 'वृद्धि' के लिए ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में

'प्रश्लिष्ट' नाम दिया गया है। इसमें दो स्वर मिलकर एक ही में श्लिष्ट हो जाते हैं। अर्थात् दोनों में से किसी एक स्वर के दूसरा साथ चिपक जाता हैं। 'अक: सवर्णे दीर्घ:'; 'आद् गुण:' तथा 'वृद्धिरेचि' सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती हैं। उदाहरणार्थ— अश्व + अजनि: = अश्वाजनि:, हि + ईमिद्ध: = हीमिद्ध:, मधु + उदकम् = मधूदकम्, आ + इन्द्र: = एन्द्र:, एतायाम + उप = एतायामोप, आ + एनम् = ऐनम्, पर + ऐत = परैत, यत्र + ओषधी: = यत्रौषधी:, प्र + औक्षन् = प्रौक्षन् इत्यादि।

३.३.२ क्षैप्रसन्धि

लौकिकभाषा की 'यण्' सन्धि के लिए ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में 'क्षैप्र' नाम दिया गया है। इसमें इ, उ, ऋ, ऌ के बाद असवर्ण (इ, उ, ऋ,ऌ के अतिरिक्त अन्य स्वर आने पर इ को य्, उ को व्, ऋ को र् तथा ऌ को ल् हो जाता है। इसी प्रकार उपर्युक्त स्वरवर्णों के दीर्घ रूपों को भी उक्त आदेश समझना चाहिए। इस सन्धि में सन्धि होने पर पहले की अपेक्षा उच्चारण में कुछ 'क्षिप्रता' आ जाती है, अत: इसे 'क्षैप्र' कहा जाता है। 'इको यणचि' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती हैं। उदाहरणार्थ– अभि + 'आर्षेयम् = अभ्यार्षेयम्, अनु + अत्र = अन्वत्र। उपर्युक्त उदाहरणों में 'अभि' की इकार के बाद 'आ' स्वर आने पर 'इ' को 'य्' आदेश हो गया है, जो 'इ' की अपेक्षा क्षिप्र = शीघ्र उच्चरित हो जाता है। इसी प्रकार 'अनु' के उकार के बाद 'अत्र' का अकार आने से 'उ' को 'व्' आदेश हुआ है, जो 'उ' की उपेक्षा क्षिप्र = शीघ्र उच्चरित हो जाता है।

३.३.३. अभिनिहित सन्धि

लौकिकसंस्कृत की 'पूर्वरूप' सन्धि के लिए ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 'अभिनिहित' नाम दिया गया है। इसमें किसी पद या पाद के अन्त में 'ए' अथवा 'ओ' हो तथा परवर्ती पद अथवा पाद के आदि में 'अ' हो, तब वह 'अ' पूर्ववर्ती 'ए' या 'ओ' के साथ मिलकर एकाकार हो जाता है। लौकिकसंस्कृत के 'एङ: पदान्तादति' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग मे आती है। उदाहरणार्थ– सूनवे + अग्ने = सूनवेऽग्ने, रथेभ्यो + अग्ने = रथेभ्योऽग्ने, गावो + अभित: = गावोऽभित: इत्यादि।

३.३.४. भुग्न सन्धि

लौकिकसंस्कृत की 'अयादिचतुष्टय' या 'अयादि' सन्धि को ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 'भुग्न' नाम दिया गया है। इसमें 'ओ' अथवा 'औ' के बाद अनोष्ठ्य स्वर होने पर 'ओ' के स्थान पर 'अव्' तथा 'औ' के स्थान पर 'आव्' हो जाता है। भुग्न का अर्थ 'बँट जाना' होता है। इस सन्धि में एक वर्ण 'ओ' बँटकर दो वर्णों 'अव्' में तथा 'औ' बँटकर दो वर्णों 'आव्' में परिवर्तित हो जाते हैं। लौकिक- भाषा के 'एचोऽयवायाव:' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती हैं। उदाहरणार्थ– वायो + आ याहि = वायवा याहि, तौ + इन्द्राग्नी = ताविन्द्राग्नी। इन उदाहरणों में ओकार तथा औकार क्रमश: 'अव्' तथा 'आव्' में परिवर्तित हो गए हैं।

३.३.५. उद्ग्राह सन्धि

लौकिकसंस्कृत के 'एचोऽयवायाव:' तथा 'लोप: शाकल्यस्य' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ ऋक्प्रातिशाख्य में 'उद्ग्राह' सन्धि के नाम से कही गयी हैं। इसमें एकार या ओकार के बाद स्वर होने पर सर्वप्रथम एकार को 'अय्' तथा ओकार को 'अव्' आदेश होते हैं, तत्पश्चात् 'य्' तथा 'व्' का लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ– अग्ने + इन्द्र: = अग्न् अय् इन्द्र: = अग्न इन्द्र:, वायो + उक्थेभि: = वाय् अव् उक्थेभि: = वाय उक्थेभि:।

३.३.६. पादवृत्त सन्धि

यह सन्धि भी 'एचोऽयवायाव:' तथा 'लोप: शाकल्य' सूत्र से होने वाली सन्धियों के अन्तर्गत आती है। इसमें 'ऐ' तथा 'औ' के बाद ओष्ठ्य स्वर आने पर 'ऐ' तथा 'औ' के स्थान पर 'आ' हो जाता है। वस्तुत: इसमें भी सर्वप्रथम 'ऐ' को 'आय्' होकर 'य्' का लोप हो जाता है तथा औ को आव् होकर 'व्' का लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ– अन्वेतवै + उ = 'अन्वेतवा उ', तथा उभौ + उ = 'उभा उ'।

३.४. व्यञ्जन-सन्धियाँ

वेदों में अनेक प्रकार की व्यञ्जन-सन्धियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु यहाँ पर कतिपय प्रमुख सन्धियों का विवेचन किया जा रहा है।

३.४.१. अवशंगम सन्धि

इस सन्धि में दो व्यञ्जन वर्ण बिना किसी विकार के परस्पर मिल जाते हैं। पाणिनि-व्याकरण में इसे सन्धि नाम से अभिहित नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ— आरैक् + पन्थाम् = आरैक्पन्थाम्, वषट् + ते = वषट्ते, यत् + पतये = यत्पतये। ऋक्प्रातिशाख्य 'स्पर्शवर्ण + कोई भी प्रथमस्पर्श' के योग में ही इस सन्धि को स्वीकार करता है।

३.४.२. वशंगम सन्धि

ऋक्प्रातिशाख्य में उन सभी व्यञ्जन सन्धियों को इसके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, जिनमें पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती वर्णों में से किसी का परिवर्तन अन्य व्यञ्जन के रूप में हो जाता है। लौकिकसंस्कृत के 'झला जश् झशि', 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा', 'शश्छोऽटि', 'झयो होऽन्यतरस्याम्', 'स्तोश्चुना श्चुः', तोर्लि, 'वा पदान्तस्य', इत्यादि सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी नाम से कही गयी हैं। उदाहरणार्थ– वाक् + वदन्ति = वाग्वदन्ति, यत् + वाक् = यद्वाक्, अर्वाक् + नराः = अवाङ् नराः, वट् + महान् = वण्महान्, अर्वाक् + शफाविव = अर्वाक्छफाविव, विपाट् + शुतुद्री = विपाट्छुतुद्री, अवाट् + हव्यानि = अवाड्व्यानि, तच् + शयोरा = तच्छयोरा, यत् + जिगासि = यज्जिगासि, अङ्गात् + लोम्नः = अङ्गाल्लोम्नः, जिगीवान् + लक्षमादत् = जिगीवाँल्लक्षमादत्, भद्रम् + करिष्यति = भद्रङ्करिष्यति।

३.४.३. परिपन्न सन्धि

'म्' के बाद जब ऊष्मवर्ण (श् ष् स् ह) अथवा 'र्' हो तो 'म्' अनुस्वार हो जाता है। उदाहरणार्थ– होतारम् + रत्नधातमम् = होतारं रत्नधातमम्, त्वाम् = ह = त्वांह।

विशेष— पाणिनि-व्याकरण में 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से पदान्त 'म्' के बाद कोई भी व्यञ्जन रहने पर 'म्' को अनुस्वार में परिवर्तित होने का विधान है, परन्तु वैदिक संस्कृत में 'म्' से बाद र् या श्, ष्, स्, ह् वर्णों के रहने पर ही अनुस्वार होने का विधान है। इसी अनुस्वार को 'यजुर्वेदी लोग' 'ग्वङ्' के रूप में उच्चरित करते हैं। यजुर्वेदसंहिता एवं यजुर्वेद से सम्बन्धित अन्यान्य ग्रन्थों– ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों में उपर्युक्त स्थलों पर ँ्(ग्वङ्) की सत्ता प्राप्त होती है। जैसे– गणानां त्वा गणपतिम् + हवामहे = गणानां त्वा गणपति ँ् हवामहे।

३.४.४. आन्-पद पदवृत्ति सन्धि

पदान्त 'आन्' के बाद स्वर होने पर 'न्' का लोप होकर 'आ' अनुनासिक हो जाता है। उदाहरणार्थ– सर्गान् + इव = सर्गाँ इँव, महान् + इन्द्रः = महाँ इन्द्रः।

३.५ विसर्ग-सन्धि

३.४.१ प्रश्रित-सन्धि

ह्रस्व अकार के बाद विसर्ग हो तथा विसर्ग के बाद ह्रस्व अकार अथवा सघोष व्यञ्जन हो तब विसर्ग 'उ' में बदल जाता है तथा अ + उ = 'ओ' हो जाते हैं। लौकिकसंस्कृत 'अतो रोरप्लुतादप्लुते', 'हशि च' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी नाम से कही गयी हैं। उदाहरणार्थ– यः + अस्कभायत् = यो अस्कभायत्। इस उदाहरण में विसर्ग से पूर्व ह्रस्व अकार है तथा बाद में भी ह्रस्व अकार है, अतः उपर्युक्त

सन्धि हुई है।

३.५.२ उद्ग्राह पदवृत्ति सन्धि

जब विसर्ग से पूर्व ह्रस्व अकार हो तथा बाद मे अ या आ के अतिरिक्त कोई भी स्वर हो तब विसर्ग का लोप हो जाता है। जैसे यः + इन्द्र = य इन्द्रः कः ईषते = क ईषते।

३.५.३. नियत सन्धि

ह्रस्व स्वर के बाद विसर्ग होने पर तथा विसर्ग के बाद 'र्' होने पर विसर्ग का लोप होता है तथा पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है। पाणिनि-व्याकरण के 'रोरि', ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी नाम से कही जाती हैं। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार विसर्ग के 'र्' का लोप होकर पूर्ववर्ती ह्रस्वस्वर दीर्घस्वर में बदल जाता है। उदाहरणार्थ– प्रातः + रत्नम् = प्राता रत्नम्, अग्निः + रक्षांसि = अग्नी रक्षांसि।

३.५.४. अकाम सन्धि

(१) जब आ, ई अथवा ऊ के बाद विसर्ग हो, तथा विसर्ग के बाद 'र्' हो तब विसर्ग का लोप हो जाता है। यह सन्धि भी 'रोरि' सूत्र से होने वाली सन्धि के समान कही जा सकती है। उदाहरणार्थ– अश्वाः + रथः = अश्वा रथः।

(२) 'आ' से बाद विसर्ग हो तथा विसर्ग से बाद कोई सघोष वर्ण हो तब भी विसर्ग का लोप जाता है। जैसे– याः + ओषधीः = या ओषधीः, पुनानाः + यन्ति = पुनाना यन्ति।

३.५.५. उपाचरित सन्धि

स्वर से बाद विसर्ग तथा विसर्ग से बाद 'क्' अथवा 'प्' हो तब विसर्ग को 'स्' आदेश हो जाता है। जैसे– शश्वतः + कः = शश्वतस्कः, यः + पतिः = यस्पतिः, निः + कृतिः = निष्कृतिः। यह सन्धि 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से होने वाली सन्धि के सदृश है।

३.५.६. रेफ सन्धि

जब स्पर्श वर्ण से बाद विसर्ग तथा विसर्ग से बाद सघोष वर्ण हो तब विसर्ग 'र्' में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ– प्रातः + अग्निम् = प्रातरग्निम्, प्रातः + मित्रावरुणा = प्रातर्मित्रावरुणा, अग्निः + अस्मि = अग्निरस्मि।

३.६. वैदिक शब्द-रूप

वैदिकभाषा में भी शब्दों के रूप पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग, एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में पाये जाते हैं। इस भाषा में भी लौकिकसंस्कृत के समान प्रथमा से सम्बोधन पर्यन्त सभी विभक्तियाँ पायी जाती है किन्तु वैदिकसंस्कृत में कतिपय शब्दों के अनेक विभक्तियों में वैकल्पिक रूप भी प्राप्त होते हैं। पाणिनि-सूत्रों के आधार पर शब्द-रूपों से सम्बन्धित कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

आज्जसेरसुक् (७/१/५०)— अकारान्त प्रातिपदिक से 'जस्' (प्रथमा एवं सम्बोधन बहुचन) प्रत्यय लगने पर जस् प्रत्यय को 'असुक्' का आगम होता है। असुक् प्रत्यय में 'क्' वर्ण की इत्संज्ञा होने से यह 'कित्' है, अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र से यह अन्त (बाद) में होता है। उदाहरणार्थ– देव + जस् = देव + जस् + असुक् (अस्) = देवासः रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार जनासः, रथासः, ब्राह्मणासः रूप भी वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं।

वैदिक भाषा में सुप् प्रत्ययों को शब्दों के साथ जुड़ने से निम्नलिखित ११ प्रकार की वैकल्पिक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (७.१.३९)

(१) सु— किसी भी 'सुप्' विभक्ति के स्थान में 'सु' (प्रथमा, एकवचन) लगती है। उदाहरणार्थ– ऋजवः सन्तु पन्थाः (ऋ० १०.८५.२३) मन्त्रांश में 'सन्तु' क्रिया-पद बहुवचन में होने के कारण 'पन्थानः' (प्रथमा बहुवचन में) होना चाहिए परन्तु उपर्युक्त सूत्र (सुपां सुलुक्०) से पन्थाः ('स' विभक्ति) होकर बना है।

(२) लुक्— वैदिकभाषा में यत्र-तत्र किसी भी सुप् (विभक्ति) प्रत्यय का लोप हो जाता है। जैसे– 'परमे व्योमन्' (ऋ० १.२९.७) मन्त्रांश में 'परमे' पद सप्तमी एकवचन में होने के कारण 'व्योमन्' पद को भी सप्तमी ए०व० अर्थात् 'व्योमनि' होना चाहिए, परन्तु ऐसा न होकर सप्तमी एकवचन 'ङि' विभक्ति का लोप होकर 'व्योमन्' रूप भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार विश्वा, विश्वानि इत्यादि अनेक वैकल्पिक रूप प्राप्त होते हैं।

(३) पूर्वसवर्ण— जहाँ पर स्वरादि 'सुप्' (विभक्ति) प्रत्यय लगने पर 'यण्' का विधान हो, वहाँ पूर्वसवर्ण अर्थात् प्रातिपदिक और प्रत्यय को प्रातिपदिक के अन्तिम स्वर का सवर्णी स्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे– धीति + टा (आ), मति + टा (आ) तथा सुस्तुति + टा (आ) प्रत्यय होने पर पूर्वसवर्ण होकर क्रमशः धीती, मती एवं सुष्टुती पद बन जाते हैं। लौकिक संस्कृत में यण् होकर धीत्या, मत्या तथा सुष्टुत्या रूप बनते हैं।

(४) आ— प्रथमा एवं द्वितीया के द्विवचन (औ, औट्) प्रत्ययों से बने पदों के औकार के स्थान पर 'आ' आदेश होता है। जैसे– यत् शब्द के पुल्लिङ्ग द्विवचन के 'यौ' को 'या' हो जाता है। सुरथ, देव, दिविस्पृश्, अश्विन् नासत्य आदि शब्दों के प्रथमा एवं द्वितीया द्विवचन में क्रमशः सुरथा, देवा, द्विवस्पृशा, आश्विना नासत्या आदि रूप भी बनते हैं।

(५) आत्— द्वितीया एकवचन (अम्) विभक्ति के स्थान पर 'आत्' आदेश होता है। जैसे 'नत' शब्द के द्वितीया एकवचन में नत् + अम् = नत + आत् होकर 'नतात्' रूप भी बनता हैं।

(६) शे— सप्तमी बहुवचन 'सुप्' विभक्ति तथा चतुर्थी बहुवचन 'भ्यस्' विभक्ति के स्थान पर 'शे' = 'ए' आदेश होता है– जैसे युष्मद् + सुप् = युष्मद् + शे (ए) = दकार का लोप होकर 'युष्मे' रूप बनता है। इसी प्रकार अस्मद् + सुप् = अस्मद् + शे (ए) = 'अस्मे' रूप बनता है। चतुर्थी बहुवचन 'भ्यस्' विभक्ति लगने पर भी इसी प्रकार के रूप अर्थात् युष्मे, अस्मे ही बनते हैं।

(७) या— तृतीया एकवचन 'टा' विभक्ति के स्थान पर 'या' आदेश होता है परन्तु यह आदेश वहीं होता है जहाँ 'टा' को पहले 'ना' आदेश होता है। उदाहरणार्थ– 'उरु' शब्द के तृतीया एकवचन में 'उरुणा' के स्थान पर उरुया, 'घृष्णु' शब्द के घृष्णुना के स्थान पर घृष्णुया रूप भी प्राप्त होते हैं।

(८) डा— सप्तमी एकवचन 'ङि' विभक्ति के औकारान्त रूपों में 'औ' के स्थान पर 'डा' आदेश होता है। 'डा' आदेश डित् है, अतः प्रातिपदिक 'टि' (अन्तिम स्वरवर्ण या अन्तिम स्वरवर्ण जिस वर्णसमूह के आदि में स्थित हो) का लोप होता है। उदाहरणार्थ– नाभि + ङि = नाभि + डा (आ) = नाभ् + आ = नाभा (नाभि शब्द के अन्तिम 'इ' स्वर का लोप होकर) रूप बनता है।

(९) ड्या— तृतीया एकवचन के रूप में कहीं-कहीं आङ् होता है। इसी 'आङ्' के स्थान पर 'ड्या' आदेश हो जाता है। उदाहरणार्थ– अनुष्ठा शब्द का 'अनुष्ठया' होना चाहिए परन्तु वैदिक भाषा में 'अनुष्ठ्या' रूप भी प्राप्त होता है।

(१०) याच्— सम्बोधन एकवचन में 'याच्' आदेश होता है। उदाहरणार्थ– 'साधु' शब्द के सम्बोधन एकवचन में साधु + सु = साधु + याच् = 'साधुया' रूप भी होता है। लौकिक संस्कृत में 'साधों' रूप ही होता है।

(११) आल्— सप्तमी एकवचन के रूपों में आने वाले अन्तिम वर्ण 'ए' के स्थान पर 'आल्' आदेश हो जाता है। उदाहरणार्थ– 'वसन्त' के 'वसन्ते' के स्थान पर वसन्त + आल् (आ) = 'वसन्ता' रूप भी होता है।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विशेषताएँ वैदिकभाषा में यत्र-तत्र प्राप्त होती हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(१) अकारान्त पुल्लिग शब्दों से तृतीया बहुवचन में 'भिस्' प्रत्यय के स्थान पर 'ऐस्' आदेश विकल्प से होता है। जैसे– देवैः, देवेभिः, प्रियैः, प्रियेभिः, रामैः रामेभिः इत्यादि।

(२) अकारान्त शब्द के तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' अथवा 'एण' होता है। जैसे– प्रिया, प्रियेण आदि।

(३) आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द के प्रथमा एवं सम्बोधन बहुवचन के अन्त में 'आः' तथा 'आसः' दोनों प्रत्यय होते हैं। जैसे– प्रियाः, प्रियासः। तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' होता है। जैसे– प्रिया, प्रियया आदि।

(४) इकारान्त पुल्लिग शब्द के तृतीया एकवचन के अन्त में 'ना' अथवा 'या' होता है। जैसे शुचिना, शुच्या।

(५) इकारान्त स्त्रीलिंग शब्द के तृतीया एवचन के अन्त में 'आ' होता है अथवा कोई भी विभक्ति-चिह्न नहीं होता है तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी विभक्तियों के एकवचन में पुल्लिग के समान रूप बनते हैं।

(६) उकारान्त पुल्लिग शब्दों के रूप इकारान्त शब्दों के रूपों के समान ही होते हैं। षष्ठी एकवचन में कुछ भिन्नता होती है। जैसे– 'मधु' शब्द का षष्ठी एकवचन में 'मध्वः' तथा 'मध्वोः' दोनों रूप बनते हैं।

(७) संख्यावाची 'एक' शब्द के पञ्चमी एकवचन में 'एकस्मात्' तथा 'एकात्' दोनों रूप होते हैं। इसी प्रकार सप्तमी एकवचन में 'एकस्मित्' तथा 'एके' दोनों रूप बनते हैं।

(८) 'तिसृ' एवं 'चतसृ' शब्दों के षष्ठी बहुवचन में 'तिसृणाम्' चतसृणाम् रूप भी विकल्प से होते हैं।

(९) 'अस्मद्' और 'युष्मद्' शब्द के रूपों की कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

अस्मद्	युष्मद्
प्रथमा द्विवचन में वाम् तथा आवाम्।	प्रथमा द्विवचन में युवाम् तथा युवम्। चतुर्थी एकवचन में
मह्यम्, मह्य।	तृतीया एकवन में त्वा, त्वया।
सप्तमी बहुवचन में अस्मासु, अस्मे।	तृतीया द्विवचन में युवभ्याम्, युवाभ्याम्।
	पञ्चमी एकवचन 'त्वत्' द्विवचन में
	'युवत्', 'युवाभ्याम्'।
	सप्तमी एकवचन में 'त्वे', 'त्वयि', बहुवचन
	में 'युष्मे', 'युष्मासु'।

(१०) 'हु' धातु का कर्म तृतीया और द्वितीया दोनों विभक्तियों में प्राप्त होता है (तृतीया च होश्छन्दसि)। जैसे– 'यवाग्वाऽग्निोत्रं जुहोति'। यहाँ पर यवागू (हव्य वस्तुविशेष) अग्निहोत्र का विशेषण है, उसमें कर्मकारक होने पर भी तृतीया विभक्ति है।

(११) कहीं-कहीं चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति एवं षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि। (पा० २.३.६२) एवं षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्। (वार्तिक)। उदाहरणार्थ– 'गोधा कालका दार्वाघा-टस्ते वनस्पतीनाम्' तथा 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः'! इन उदाहरणों में 'वनस्पतीनाम्' का अर्थ है– वनस्पतियों के लिए। परन्तु इसमें चतुर्थी न होकर षष्ठी है।

(१२) 'यज्' धातु का 'करण' तृतीया तथा षष्ठी दोनों विभक्तियों में हो सकता है। 'यजेश्च करणे' (पा० २.३.६३)। उदाहरणार्थ– घृतस्य घृतेन व यजते = घृत से हवन किया जाता है।

३.७ वैदिक धातुरूप

वैदिक भाषा में धातु-रूपों की विविधता प्राप्त होती है। उस समय तक धातु-रूपों के प्रयोगों एवं स्वरूपों के सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं थे। महर्षि पाणिनि ने वैदिक धातुओं के लकारों के कालविभाजन के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख विधान किया हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

छन्दसि लुङ् लङ् लिटः (पा०सू० ३.४.६)।

वैदिकभाषा में लुङ्, लङ् तथा लिट् लकारों का प्रयोग सभी कालों के अर्थों का बोध कराने के लिए हुआ है। ये लकार अपने निश्चित अर्थों का बोध भी कराते हैं। जैसे– 'देवो देवेभिरागमत्' (ऋ० १.१.५) 'देव (अग्नि) देवताओं के साथ आवें'। यहाँ पर 'अगमत्' गम् धातु के लुङ् लकार का रूप है, परन्तु इसका अर्थ लोट् लकार के लिए है। 'अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यमानः' 'आज यह यजमान अग्नि को ही होता के रूप में वरण करता है', यहाँ पर अवृणीत पर 'वृ' धातु के लङ् लकार का रूप है परन्तु इसका प्रयोग वर्तमानकाल के अर्थ में हुआ है। 'इदं तेभ्योऽकरं नमः' (ऋ०१०.८५.१६) 'मैं यह नमस्कार उनके लिए करूँ'। यहाँ पर 'अकरम्' पद 'कृ' धातु के लुङ् लकार का रूप है जिसका प्रयोग वर्तमान काल के अर्थ के लिए हुआ है। मैकडानल आदि पाश्चात्त्य वैदिक अध्येताओं ने वेदों में प्राप्त होने वाले धातु-रूपों को इस प्रकार से वर्णीकृत किया है—

Present (वर्तमान काल)।

Imperfect (लङ् लकार, सामान्य भूतकाल)।

Perfect (पूर्ण भूतकाल, लिट् लकार के समान)।

Aorist (लुङ् लकार के समान)।

Future (लृट् लकार भविष्यत् काल)।

इनके अतिरिक्त कुछ चित्तवृतियों (Moods) में भी रूप प्राप्त होते है, जो इस प्रकार हैं—

द्योतकभाव (Indicative)।

विधिलिङ् (Optative)।

आज्ञार्थक भाव (Imperative)।

विधानात्मक भाव (Injunctive)।

लेट् लकार (आत्ममूलक भाव या वस्तुपरक भाव) (Subjunctive)।

लेट् लकार केवल वेदों में प्राप्त होता है, इसके रूपों का प्रयोग विभिन्न अर्थों के प्रकाशन में हुआ है। पाणिनि ने 'लिङर्थे लेट्' (३.४.७) सूत्र द्वारा इसे स्पष्ट कर दिया है। विधि का अर्थ आज्ञा तथा अनुमति, निमन्त्रण का अर्थ जोरदार रूप से निमन्त्रित करना, आमन्त्रण का अर्थ इच्छानुसार आचरण की अनुमति अधीष्ट का अर्थ सत्कार-पूर्वक काम में लगाना, सम्प्रश्न का अर्थ पूछकर आज्ञा या अनुमति, लेना, प्रार्थना का अर्थ किसी श्रेष्ठ व्यक्ति से की जाने वाली अभ्यर्थना है। इन सभी अर्थों में वेदों में लेट् लकार का प्रयोग प्राप्त होता है।

उपसंवादाशङ्कयोश्च (पा० ३.४.८)।

'उपसंवाद' तथा 'आशंका' इन दोनों अर्थों में वेदों में लेट् लकार का प्रयोग हुआ है। उपसंवाद का अर्थ है– कर्तव्य में बाँधना (Conditional contract) अर्थात् यदि आप ऐसा करें तो मैं आपको दूँ। कारण से कार्य की सम्भावना आशंका कहलाती है। उदाहरण– 'अहमेव पशूनामीशै' (मैं यह कर सकता हूँ, यदि मैं ही सभी पशुओं पर शासन करूँ), यहाँ उपसंवाद है। 'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' ऐसा न हो जाय कि हम पाप करते-करते नरक में गिर जाँय, यहाँ आशंका है। अतः 'ईशै' तथा 'पताम' क्रियापद लेट् लकार के रूप हैं।

लेट् लकार अत्यन्त जटिल लकार है। इसीलिए लौकिकसंस्कृत में इसके रूप प्रायः लुप्त हो गये। 'भू' धातु के लेट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में ये अनेक प्रकार के रूप बनते हैं– भवति, भवाति,

भाविषति, भविषति, भविषाति, भाविषत्, भवत्, भवात्, भविषत् तथा भविषात्।

वैदिक भाषा में भी कर्तृवाच्य (Active voice) तथा कर्मवाच्य (Middle voice) धातुओं के रूप प्राप्त होते हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों ने 'आत्मनेपद' के लिए (Middle voice) तथा 'परस्मैपद' के लिए (Active voice) शब्दों का ही प्रयोग किया है। कतिपय अपवादों को छोड़कर वैदिकभाषा के धातु-रूप का लौकिक संस्कृत के धातुरूपों के समान ही है। लेट् लकार में कुछ धातुओं के विशिष्ट रूप इस प्रकार हैं—

'भू' (सत्तायाम्)

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	भवाति, भवात्	भवात:	भवान्
मध्यम पुरुष	भवासि, भवा:	भवाथ:	भवाथ
उत्तम पुरुष	भवानि, भवा	भवाव	भवाम

'इ' (अय्) (गमने)

प्रथम पुरुष	अयति, अयत्	अयत:	अयन्
मध्यम पुरुष	अयसि, अय:	अयथ:	अयथ
उत्तम पुरुष	अयानि,अया	अयाव	अयाम

ब्रू (कथने)

आत्मनेपद

प्रथम पुरुष	ब्रवते	ब्रवैते	ब्रवन्त
मध्यम पुरुष	ब्रवसे	ब्रवैथे	ब्रवध्वे
उत्तम पुरुष	ब्रवै	ब्रवावहै	ब्रवामहै

वैदिकसंहिताओं में लुङ् लकार (Aorist) में भी अनेक प्रकार के रूप दृष्टिगोचर होते हैं। इस लकार के रूपों को आगम तथा विकरण के आधार पर दो प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है, पुन: विकरण या आगम की भिन्नता के अनुसार भी रूपों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा जाता है। इस रेखाचित्र द्वारा यह अधिक स्पष्ट हो जाएगा—

लुङ् (Aorist)

विकरणयुक्त — विकरणरहित

'स' विकरण 'स्' विकरण 'इष्' विकरण 'सिष्' विकरण — सामान्य — द्वित्वीकृत

'अ' आगमयुक्त — मूलधातुयुक्त

लुङ् लकार के कतिपय रूपों में कहीं 'स' कहीं 'स्' कहीं 'इष्' कहीं 'सिष्' विकरण प्राप्त होते हैं। कुछ रूपों में धातु के आदि-अक्षरों का द्वित्व हो गया है तथा कुछ रूपों धातु अपने मूलरूप में ही दृष्टिगोचर होती है। आदि में 'अ' का आगम तो इस लकार के रूपों का सामान्य वैशिष्ट्य है, इस प्रकार इस लकार के रूप भी अनेकश: प्राप्त होते हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों ने इनके लिए 'Sa' aorist, 'S' aorist, 'Is' aorist, 'Sis' aorist, Reduplicated aorist तथा Root aorist नामों का प्रयोग किया है। ध्यातव्य है कि इन सभी प्रकार के रूपों से सम्बन्धित पद सभी पुरुष और सभी वचनों में उपलब्ध नहीं होते। यहाँ कुछ धातुओं के रूप दिए जा रहे हैं।

'स' विकरणयुक्त 'बुध्' धातु (आत्मनेपद)

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	अबुद्ध	अभुत्साताम्	अभुत्सत
मध्यम पुरुष	अबुद्धा:	अभुत्साथाम्	अभुद्ध्वम्

उत्तम पुरुष	उभुत्सि	अभुत्स्वहि	अभुत्स्महि

'स्' विकरणयुक्त 'भृ' धातु (परस्मैपद)

प्रथम पुरुष	अभार्	अभार्ष्टीम्	अभार्षुः
मध्यम पुरुष	अभार्	अभार्ष्टम्	अभार्ष्ट
उत्तम पुरुष	अभार्षम्	अभार्ष्व	अभार्ष्म

'इष्' विकरणयुक्त क्रम धातु (परस्मैपद) द्योतकभाव

प्रथम पुरुष	अक्रमीत्	अक्रमिष्टाम्	अक्रमिषुः
मध्यम पुरुष	अक्रमीः	——	——
उत्तम पुरुष	अक्रमिषम्	——	अक्रमिष्म

इस धातु के अवशिष्ट रूप नहीं प्राप्त होते।

'अ' आगमयुक्त 'विद्' धातु

प्रथम पुरुष	अवदित्	——	अविदन्
मध्यम पुरुष	अविदः	——	अविदत
उत्तम पुरुष	अविदम्	अविदाव	अविदाम

वैदिक Aorist (लुङ् लकार) के रूप लङ्लकार, लिट्लकार, विधिलिङ् आदि कई लकारों के रूपों से साम्य रखते हैं। इसका प्रधान कारण है— वैदिकयुग तक भाषा का व्याकरण के कठोर नियम से मुक्ति तथा भौगोलिक विभिन्नता।

ऊपर धातु-रूपों के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख नियमों का विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग के कुछ प्रक्रिया-रूपों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। ये रूप हैं– प्रेरणार्थक या णिजन्त, इच्छार्थक या सन्नन्त, पौनःपुन्यार्थक या यङन्त तथा संज्ञा अथवा विशेषण शब्दों से बने हुए नामधातु।

णिजन्त रूप— सम्पूर्ण वैदिकभाषा में लगभग २०० धातुओं के णिजन्त रूप प्राप्त होते हैं। इस प्रक्रिया में भी लौकिकसंस्कृत के समान 'अय' का योग पाया जाता है। धातु का प्रथम स्वर इ, उ, ऋ तथा ऌ होने पर इन स्वरों का गुण हो जाता है, उदाहरणार्थ– क्रुध् धातु से लट् लकार प्रथमपुरुष एकवचन में क्रोधयति, गम् धातु का गमयति, पठ् धातु का पाठयति आदि रूप बनते हैं। इस प्रकार के रूप भी सभी लकारों में नहीं प्राप्त होते हैं।

सन्नन्त रूप— वेदों में इस प्रकार रूपों का भी अनेकशः प्रयोग प्राप्त होता है। प्रायः सभी लकारों में इस प्रकार के रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार के रूपों में धातु के साथ 'स' का योग रहता है, तथा धातु के प्रथम व्यञ्जन का द्वित्व हो जाता है। धातु के अन्तिम 'इ' तथा 'उ' को दीर्घ तथा 'ऋ' को 'ईर्' हो जाता है। जैसे– निनीष, निगीष, चिकीर्ष आदि। इसी प्रकार विवासति, विवासतः, विवासन्ति, विवाससि, विवासथः, विवासथ, विवासामि, विवासावः, विवासामः, जिगमिषति, जिगमिषतः जिगमिषन्ति, इत्यादि रूप भी उपलब्ध होते हैं।

यङन्त रूप— किसी क्रिया के अतिशय अथवा बार-बार होने को बतलाने के लिए इस प्रकार के रूपों का प्रयोग हुआ है। इस प्रक्रिया में धातु में 'य' जुड़ता है तथा प्रथम व्यञ्जन का द्वित्व होता है। कहीं-कहीं 'य' का लोप हो जाता है। इस प्रकार के रूपों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं– नेनेक्ति, नेनेजीति, नेनिजति, नेनेक्षि, नेनिक्तथः, नेनेक्ते, नेनिजानि, जागृताम्, जागृहि, जागरीहि, अचाकशम्, अजागर, अदर्दर, अवरीवर, अदेदिष्ट, अन्नत, मर्मृजत् इत्यादि।

नामधातु रूप— वैदिक भाषा में इस प्रकार के रूपों का प्रयोग भी अधिक हुआ है। संज्ञा शब्दों में 'क्यच्' जोड़कर इस प्रकार के रूप बनते हैं। क्यच् का केवल 'य' बचा रहता है तथा 'य' के पूर्वस्थित स्वर दीर्घ हो जाता है। ऋकार 'री' में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रक्रिया के रूप निम्नलिखित रूपों की भाँति होते हैं—

लट्लकार

पुत्रकाम्यति	पुत्रकाम्यतः	पुत्रकाम्यन्ति
पुत्रकाम्यसि	पुत्रकाम्यथः	पुत्रकाम्यथ
पुत्रकाम्यामि	पुत्रकाम्यावः	पुत्रकाम्यामः

इस प्रक्रिया के रूप प्रायः सभी लकारों में प्राप्त होते हैं।

वैदिक धातुरूपों की अन्य विशेषताएँ

(१) इदन्तो मसि (पा०सू० ७.१.४५)– वेद में उत्तमपुरुष बहुवचन का प्रत्यय 'मस्' अपने साथ 'इ' को लिए हुए रहता है, परन्तु सर्वत्र ऐसा प्रयोग नहीं देखा जाता। उदाहरण–'नमो भरन्त एमसि'। यहाँ 'आगच्छामः' के स्थान पर 'एमसि' का प्रयोग है।

(२) छन्दसि लिट् (पा०सू० ३.२.१०५)– वेद में लिट् लकार का प्रयोग सामान्य भूतकाल के लिए किया गया है। उदाहरणार्थ– 'अह द्यावापृथिवी आततान (वाज० ८.९), मैंने द्युलोक तथा पृथिवी को फैलाया। इस मन्त्रांश में तन् धातु के लिट् लकार के रूप का प्रयोग सामान्य भूतकाल का बोध कराने के लिए हुआ है।

(३) लिटः कानज्वा (पा०सू० ३.२.१०६), **क्वसुश्च** (पा०सू० ३.२.१०७)– लिट् लकार के स्थान पर 'कानच्' और 'क्वसु' प्रत्यय विकल्प से होते हैं। जैसे– 'चक्राणा वृष्णिम्' तथा 'यो नो अग्ने अररिवाँ अधायुः' (ऋ० १.१४७.४)। हे अग्ने ! जिसने मुझे दान नहीं दिया वह पापी है। इन उदाहरणों में 'चक्राण' तथा अररिवान् पद क्रमशः कानच् तथा क्वस् प्रत्यय से बने हुए हैं। कृ धातु + कानच् प्रत्यय = चक्राण, छान्दस् दीर्घता होकर 'चक्राणा' बना है। रा धातु + क्वसु प्रत्यय = अररिवान्, नकार लोप तथा पूर्वस्वर को अनुनासिक होकर 'अररिवाँ' पद बना है। इन दोनों पदों का प्रयोग लिट् लकार के अर्थ में हुआ है।

(४) आत्मनेपद में रहने वाले तकार का वेद में लोप होता है। जैसे– अदुहत् (दुह् धातु लङ्लकार प्र०पु ए०व०) के तकार का लोप होकर अदुह रूप मिलता है।

(५) आत्मनेपद के 'ध्वम्' प्रत्यय को 'ध्वात्' आदेश होता है। जैसे– वारयध्वात्। लोक में 'वारयध्वम्'।

(६) लोट् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'त' प्रत्यय के स्थान पर 'तात्' होता है। जैसे– 'कृणुतात्'। लोक में 'कृणुत'।

(७) लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन के 'त' के स्थान में तम्, तनप्, तन और 'यन' इन चार आदेशों का प्रयोग भी वैदिक भाषा में पाया जाता है। जैसे– शृणोत, सुनोतन, दधातन, जुषुष्टन तथा ष्ठन इत्यादि। इनके लौकिक रूप क्रमशः– शृणुत, सुनोत, धत्त, जुषध्वम् तथा स्थ हैं।

दीर्घीकरण

वैदिक ग्रन्थों में कतिपय पद इस प्रकार के हैं जो मूलरूप में ह्रस्व स्वरान्त हैं परन्तु छन्द की दृष्टि से वे दीर्घ रूप में पाये जाते हैं। पदपाठ में वे दीर्घ नहीं दिखलाये जाते, संहिता मंत्रों में ही उनके दीर्घ रूप मिलते हैं। वेदपाठियों में यह परम्परा है कि वेदमन्त्रों को किसी भी परिस्थिति में छन्द के नियमों के विपरीत नहीं पढ़ना चाहिए। नीचे कुछ प्रमुख तथ्यों को पाणिनिसूत्रों के आधार पर दिया जा रहा है—

(क) ह्र्यचोऽतस्तिङ् (पा०सू० ६.३.१३५)– ऋग्वेद में दो स्वरों वाले धातु रूपों के अन्तिम अकार को दीर्घ होता है, यदि पद अकारान्त हो। जैसे– यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।

(ख) निपातस्य च (पा०सू० ६.३.१३६)– ऋग्वेद में दो स्वरों वाले निपातों के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है। उदाहरणार्थ– एवा हि ते।

(ग) ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् (पा०सू० ६.३.१३३)– ऋग्वेद में निम्नलिखित शब्दों का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है। **तु** (तो), **नु** (अभी), **घ** (निश्चयार्थक अव्यय), **मक्षु** (शीघ्र), **तङ्** (लोट् म०पु० बहुवचन), **कु** (बुरा), **त्र** (स्थान वाचक त्रल् प्रत्यय) तथा उरुष्य (रक्षा करना)। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार है– तु– 'आ तू न इन्द्र वृत्रहन्।' नु– 'नु मर्त्यः' ! घ– 'उत वा घा स्यालात्'। मक्षु– 'मक्षु गोमन्तमीमहे'। तङ्– 'मा ते भरता नरः'। कु– 'कू मनाः'। त्र– 'यत्रा नश्चका जरसं तनूनाम्'।

उरुष्य– 'उरुष्या णः' ।

(घ) इकः सुञि (पा०सू० ६.३.१३४)– ऋग्वेद में किसी पद के अन्त में आने वाले इ, उ, ऋ, ऌ स्वर दीर्घ हो जाते हैं, यदि बाद में सुञ् (सु अव्यय) हो । उदाहरणार्थ– अभीष्णु णः सखीनाम् ।

(च) ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् (पा०सू० ६.३.१३२)– 'ओषधि' शब्द के बाद प्रथमा के अतिरिक्त विभक्ति आने पर अन्तिम स्वर इकार को दीर्घ हो जाता है– जैसे 'यदोषधीभ्यः', 'अदधात्योषधीषु' । इन उदाहरणों में क्रमशः 'भ्यस्' तथा 'सुप्' अप्रथमा विभक्ति होने के कारण ओषधि के इकार को दीर्घ हो गया है ।

(छ) मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (पा०सू० ६.३.१३१)– मन्त्रों में सोम, अश्व, इन्द्रिय तथा विश्वदेव्य शब्दों के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है, यदि बाद में मतुप् प्रत्यय जुड़ा हो । जैसे– अश्व + मतुप् = अश्वावती । इसी प्रकार सोमावती, इन्द्रियावान् तथा विश्वदेव्यावान् ।

(ज) छन्दसि च (पा०सू० ६.३.१२६)– वेद में अष्टन् शब्द के बाद कोई भी शब्द रहने पर नकार का लोप होकर पूर्ववर्ती स्वर अकार का दीर्घ होता है । जैसे– अष्टन् + वक्रः = अष्टावक्रः, अष्टन् + पदः = अष्टापदः ।

३.८ वैदिक प्रत्यय

वैदिक भाषा के प्रत्ययों में भी लौकिक संस्कृत के प्रत्ययों से कुछ विशेषताएँ हैं, जो इस प्रकार हैं—

३.८.१ पूर्वकालिक क्रिया-रूप

लौकिक संस्कृत में 'क्त्वा प्रत्यय तथा 'ल्यप्' प्रत्यय जोड़कर बनाये जाने वाले पद वैदिक भाषा में 'त्वी' 'त्वाय' तथा 'त्वा' प्रत्यय जोड़कर भी बनाये जाते हैं । जैसे– 'त्वी'– कृत्वी, गत्वी, भूत्वी, वृक्त्वी, जनित्वी, स्कमित्वी आदि । 'त्वा'– पीत्वा भित्वा, मित्वा, युक्त्वा, तृप्त्वा, श्रुत्वा, हत्वा, हित्वा आदि । 'त्वाय'– जगध्वाय, गत्वाय, दत्त्वाय, दत्त्वाय, दृष्ट्वाय, युक्त्वाय, हत्वाय, हित्वाय आदि ।

लौकिक संस्कृत में धातु के पूर्व उपसर्ग रहने पर 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' प्रत्यय होता है– जैसे परिगृह्य, आगम्य आदि । परन्तु वैदिक भाषा में कहीं-कहीं उपसर्ग पहले रहने पर भी धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है । जैसे– प्रज्ञापयित्वा ।

३.८.२. तुमर्थक प्रत्यय

कतिपय वैदिक विद्वानों के मतानुसार तुमर्थक प्रत्यय वस्तुतः धातुओं से बने हुए संज्ञा शब्दों के द्वितीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियों के रूप हैं । ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में चतुर्थी विभक्ति के पदों का अधिक प्रयोग प्राप्त होता है । 'तुमुन्' के अर्थ में जो प्रत्यय वेदों में पाये जाते हैं उनको पाणिनि ने एक ही सूत्र में बतला दिया है, जो इस प्रकार हैं—

'तुमर्थे सेसेन् असे असेन्क्सेकसेनध्यै ।

अध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यै शध्यैन्तवैतवेङतवेनः (पा० ३.४.९)' ।

तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वैदिक भाषा में– से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ् तथा तवेन् ये १५ प्रत्यय होते हैं । उपर्युक्त प्रत्ययों में न्, क्, ङ्, श् वर्णों की इत् संज्ञा होती है । जिस प्रत्ययों में 'न्' वर्ण इत्संज्ञक होता है, उनसे बने शब्दों का आदि अक्षर उदात्त होता है । 'क्' इत्संज्ञक वाले (कित्) प्रत्ययों के लगने पर 'गुण' का निषेध हो जाता है । ङित् प्रत्ययान्त शब्दों में भी गुणनिषेध होता है । शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है, अतः 'अय्' आदेश होता है ।

से– √वच् + से = 'वक्षे' पुकारने के लिए, √वह् + से = 'वक्षे' ढोने के लिए ।

सेन्– √इ + सेन् = 'एषे' (जाने के लिए)।

असे– √जीव + असे = 'जीवसे' जीने के लिए।

असेन्– √जीव + असेन् = जीवसे (आदि उदात्त) जीने के लिए।

क्से– √इ + क्से = (स् को ष् होकर) इषे, 'प्र' उपसर्ग लगने से 'प्रेषे' शब्द बना (भली प्रकार जाने के लिए)।

कसेन्– √श्रि + कसेन् (इयङ आदेश होकर) श्रियसे।

अध्यै, अध्यैन्– √पृ + अध्यै = पृणध्यै। 'अध्यैन्' प्रत्यय लगने पर आदि स्वर उदात्त होता है।

कध्यै, कध्यैन्– आङ् (आ) उपसर्ग + √हु + कध्यै अथवा कध्यैन् प्रत्यय, कित् होने से 'उवङ्' आदेश होकर रूप बना-आहुवध्यै। 'अध्यैन्' प्रत्ययान्त होने से 'नित्' होने के कारण आदि अक्षर उदात्त होता है।

शध्यै– √मद् + णिच् + शध्यै = मादयध्यै।

शध्यैन्– √पा (पिब् आदेश) + 'शध्यैन्' = पिबध्यै। 'नित्' होने के कारण आदि अक्षर उदात्त।

तवै– √दा + तवै = दातवै। दातवै + उ = 'दातवा' उ ('एचोऽयवायावः' से आय्, 'लोपः शाकल्यस्य' से यकार लोप)।

तवेङ्– √सू + तवेङ् प्रत्यय = सूतवे (ङित् प्रत्यय लगने से गुण का निषेध)।

तवेन्– √कृ + तवेन् = कर्तवे (गुण कार्य होकर)।

उपरिकथित प्रत्ययों के अतिरिक्त भी कतिपय अन्य प्रत्यय तुमुन् के अर्थ में वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं।

"ईश्वरे तोसुन्कसुनौ (पा० ३.४.१५)" से 'ईश्वर' शब्द उपपद रहने पर 'तुमुन्' के अर्थ में वैदिक भाषा में 'तोसुन्' और 'कसुन्' प्रत्यय होते हैं– जैसे– 'ईश्वरो विचरितोः', वि + √चर् + तोसुन् (तोस्) = विचरितोः (विचरण करने में समर्थ)। 'ईश्वरो लिखितः' √लिख् + कसुन् (अस्) = लिख् (इट् का आगम) + अस् = लिखितः (लिखने में समर्थ)।

"प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै (पा०३.४.१०)" से प्रयै, रोहिष्यै, तथा अव्यथिष्यै शब्द तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रयै = जाने के लिए, रोहिष्यै = चढ़ने के लिए, अव्यथिष्यै = पीड़ित न करने के लिए।

"दृशे विख्ये च (पा०३.४.११)" से 'दृशे विश्वास सूर्यम्' (ऋ०१.५०.१) तथा 'विख्ये त्वा हरामि' मन्त्रांशों में √दृश् + के = दृशे (देखने के लिए) तथा वि + √ख्या + के = विख्ये (देखने के लिए) शब्द तुमुन् के अर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं। यहाँ पर 'के' प्रत्यय 'तुमुन्' का अर्थ बतलाता है।

"शकि णमुल्कमुलौ (पा० ३.४.१२)" से यदि उपपद में शक् धातु का प्रयोग हो तब तुमुन् के अर्थ में 'णमुल्' तथा कमुल ये दो प्रत्यय होते हैं। उदाहरणार्थ– वि + √भज् + णमुल् = विभाजम् (विभाग करने के लिये), अप + √लुक् + कमुल् = 'अपलुकम्' अशकत् (विभाजन या लोप नहीं कर सका)।

३.८.३ कृदन्त प्रत्यय

वैदिकभाषा के कृदन्त रूपों में लौकिकसंस्कृत से कतिपय विशेषताएँ हैं, जो इस प्रकार हैं—

वर्तमानकालिक कृदन्त— 'शतृ' और 'शानच्' वर्तमानकालिक कृदन्त हैं। वैदिक भाषा में इनका रूप लौकिक संस्कृत के समान ही बनता है। जैसे– गच्छत् = √गम् + शतृ, वर्तमान् = √वृत् + शानच्, युज्जान = √युज् + शानच्, क्रियमाण = कृ + शानच्।

भूतकालिक कृदन्त— 'क्त' और 'क्तवतु' भूतकालिक कृदन्त हैं। उदाहरणार्थ– हतः = √हन् + क्त, हतवान् = √हन् + क्तवतु, कुपितः = √कुप् + क्त, स्तुतः = √स्तु + क्त, भिन्नः = √भिद् + क्त।

पूर्णकालिक कृदन्त— वेद में परस्मैपद में 'वांस' प्रत्ययान्त शब्द इस प्रकार के अर्थ का द्योतन करते हैं। जैसे– चकृवांस, चक्राण, जघन्वांस, तस्तभ्वांस, तस्थिवांस, पप्तिवांस, ईयिवांस, चिकित्वांस आदि। आत्मनेपद में 'आन्' प्रत्यय जोड़कर इस प्रकार के रूप बनते हैं, जैसे– आनजान, आनशान, आराण, ईजान, ऊचान, चक्राण, शशमान, शशयान इत्यादि।

भविष्यत्कालिक कृदन्त— परस्मैपद में 'अन्त' जोड़कर तथा आत्मनेपद में 'अन्त' जोड़कर तथा आत्मनेपद में 'मान' जोड़कर बनता है। उदाहरणार्थ– भविष्यन्त तथा यक्ष्यमाण पद क्रमशः परस्मैपद तथा आत्मनेपद के हैं।

३.८.४. तद्धित प्रत्यय

प्रातिपदिक शब्दों के साथ जुड़कर उनसे सम्बद्ध अर्थों को बतलाने वाले प्रत्यय 'तद्धित' कहलाते हैं। वैदिकभाषा के कतिपय प्रमुख तद्धित प्रत्यय तथा उनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

अ– देव, मानव, पार्थिव, मारुत।
आ– प्रिया, नवा, गता।
आयन– काण्वायन, दाक्षिणायन।
इ– पौरुकुत्सि, सारथि, साबरणि।
इन्– अर्किन, अर्चिन्, वर्मिन्, रेतिन।
इय– अभ्रिय, इन्द्रिय, समुद्रिय।
ई– अदती, पृथ्वी, अवित्री, देवी।
ईन– अर्वाचीन, प्राचीन, विश्वजनीन।
ईय– गृहमेधीय, पर्वतीय, आहवनीय।
एय– आदितेय, पौरुषेय।
क– अन्तक, दूरक, ममक, पादक।
तन– सनातन, नूतन।
तम– उत्तम, पुरुतम, शततम, तवस्तम।
तर– तवस्तर, रथीतर, उत्तर।
ता– बन्धुता, वसुता, देवता।
तति– सर्वताति, ज्येष्ठताति।
त्य– अमात्य, नित्य, अपत्य, निष्ट्य।
त्व– मघवत्व, अमृतत्व।
त्वन्– जनित्वन्, सखित्वन्।
थ– कतिथ, चतुर्थ।
नी– पत्नी, परुष्णी, एणी, अशिक्नी।
भ– ऋषभ, वृषभ, गर्दभ, रासभ।
म– अवम, मध्यम, नवम, दशम।
मन्त– अशनिमन्त, क्रतुमन्त।
मय– मृण्मय, मनस्मय।
म्न– द्युम्न, सुम्न।
य– पशव्य, तुप्रय।
र– अवर, रथिर।
ल– कपिल, वृषल, बहुल।

वत्- उद्वत्, निवत।

वन्- मघवन्, समद्वन्, श्रुष्टीवन्।

वन्त- अश्वावन्त, अश्ववन्त, सखिवन्त, पयस्वन्त।

विन्- उभयाविन्, अष्ट्राविन्, यशस्विन्।

श- एतश, युवश, रोमश।

३.९ क्रिया-विशेषण तथा अव्यय

क्रिया की विशेषता बतलाने वाले शब्द क्रियाविशेषण कहलाते हैं। अव्यय पद भी कहीं-कहीं क्रिया-विशेषण के समान कार्य करते हुए प्राप्त होते हैं। वैदिकभाषा में अनेक क्रिया-विशेषण एवं अव्यय पदों का प्रयोग हुआ है, जिनसे विभक्ति के अर्थ का द्योतन होता है। कतिपय शब्दों में विभक्ति-चिह्न भी दृष्टिगोचर हैं। कतिपय क्रिया-विशेषण शब्द हैं—

अछ = ओर, **अति** = पारकर, **अनु** = पीछे, **अभि** = ओर, **प्रति** = ओर, **तिरः** = पारकर, इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति लगती हैं।

अव = नीचे से, इनके योग में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग देखा जाता है।

परि = चारों ओर, का प्रयोग चतुर्थी के योग में होता हैं।

उप = समीप में, **अपि, अधि, अन्तर** (बीच में), **आ** = ऊपर, **पुरः** = आगे, का प्रयोग सप्तमी के योग में होता है।

अव = नीचे से, यह पंचमी के योग में प्रयुक्त होता है।

वैदिक भाषा में कतिपय 'निपात' शब्द इस प्रकार के प्राप्त होते हैं, जो मूलतः क्रिया-विशेषण हैं परन्तु वे स्वतन्त्र रूप से विभक्तियों के साथ प्रयुक्त हुए हैं। जैसे- **अन्तरा** = बीच में, **अभितः** = चारों ओर, **उपरि** = ऊपर, परे, **परः** = परे, **परितः** = चारों ओर, **सनितुः** = अतिरिक्त- ये सभी शब्द द्वितीया विभक्ति के साथ पाये जाते हैं। सह, साकम्, सुमद्, स्मद, (ये सभी 'साथ' के अर्थ में), **अव** = नीचे, **पर** = बाहर, ये शब्द तृतीया विभक्ति के साथ प्रयुक्त मिलते हैं।

अधः = नीचे से, **आरे** = दूर या भिन्न।

ऋते = बिना, **पर** = अलग से, **पुरा** = पहले, **बहिर्धा** = बाहर से।

सनुतः = दूर, इनका प्रयोग पञ्चमी के साथ होता है। षष्ठी के साथ **'पुरस्तात्'** = 'सामने' का प्रयोग देखा जाता है।

सचा = साथ, निपात का प्रयोग सप्तमी के साथ प्राप्त होता है।

प्रत्यययुक्त क्रियाविशेषण

'था' प्रत्यय से निष्पन्न- अथा, इत्था यथा, तथा, कथा, अन्यथा, विश्वथा, ऊर्ध्वथा, पूर्वथा, प्रत्नथा, ऋतुथा, नामथा, एवथा।

'धा' प्रत्यय से निष्पन्न- एकधा, द्विधा, त्रेधा, कतिधा, पुरुधा, बहुधा, शश्वंधा, विश्वधा, प्रियधा, मित्रधा, बहिर्धा, अधा, अद्धा, सधा।

'ह' प्रत्यय से निष्पन्न- इह, कुह, विश्वह, समह।

'वत्' प्रत्यय से निष्पन्न- पूर्ववत्, मनुवत्, पुराणवत्।

'शः' प्रत्यय से निष्पन्न- शतशः, सहस्रशः, ऋतुशः, पर्वशः।

'स्' प्रत्यय से निष्पन्न- द्विस्, त्रिस्, अवस् (अवः), अन्येद्युस् (अन्येद्युः)।

'तस्' प्रत्यय से निष्पन्न– अतः, अमुतः, इतः, मत्त, दक्षिणतः, हृतः, परितः, अभितः।

'तात्' प्रत्यय से निष्पन्न– अधस्तात्, आरात्तात्, पश्चात्तात्, पुरस्तात्, प्राक्तात्।

'अस्' प्रत्यय से निष्पन्न– तिरः, परः, पुरः, सदिवः, सद्यः, श्वः, ह्यः, मिथः।

'त्रा' या **'त्र'** प्रत्यय से निष्पन्न– अत्र, विश्वत्र, अन्यत्र, अस्मत्रा, सत्रा, दक्षिणत्रा। पुरुत्रा, बहुत्रा, देवत्रा, मर्त्यत्रा, शयुत्रा।

'दा' प्रत्यय से निष्पन्न– इदा, कदा, तदा, यदा, सदा, सर्वदा।

'दानीम्' प्रत्यय से निष्पन्न– इदानीम्, तदानीम्, विश्वदानीम्।

कतिपय अव्यय पदों के अर्थ

अङ्ग– पूर्वकथित शब्द पर जोर देने के लिए।

अत्र– कभी-कभी 'जब' अर्थ में भी आता है।

अथ– वाक्यों को तथा उपवाक्यों को जोड़ता है।

अयो– समुच्चय बोधक।

अवि– बाद वाले शब्द पर जोर देता है।

अह– पहले आने वाले शब्द पर जोर देता है।

आद– समय के क्रम को बतलाता है।

इति– प्रायः किसी कथन के अन्त में तथा क्रिया के पूर्व।

इत्था– इस प्रकार, कभी-कभी विशेषण के रूप में।

इद्– पहले आने वाले शब्द पर जोर देने के लिए।

उतो, उतो– 'और', प्रायः दो शब्दों को जोड़ते हैं।

द्य– पहले वाले शब्द पर जोर देने के लिए।

नकीम्, नकिः– नकारात्मक अर्थ को पूरा करने के लिए।

नूनम्– 'अब' के अर्थ में या 'प्रश्नवाचक' अर्थ में।

माकिः– नकारात्मक अर्थ में।

माकीम्– नकारात्मक अर्थ को पुष्ट करने के लिए।

वै– निश्च ही।

सीम्– अवधारणार्थक।

सु, सू– अच्छी प्रकार के अर्थ में क्रियाविशेषण है।

स्विद्– वाक्य के पहले शब्द पर जोर देता है।

ह– प्रसिद्धि का वाचक तथा प्रारम्भिक शब्द के बाद आता है।

इनके अतिरिक्त कतिपय विस्मयबोधक अव्ययों के प्रयोग भी वेदों में प्राप्त होते हैं, जैसे– बत, बट्, हन्त, है, हिरक्, हुरुक्, चिश्चा, फट्, फल्, बाल्, कुक्, शल् आदि।

३.१० वैदिक उपसर्ग

निरुक्तकार यास्क के अनुसार वैदिक भाषा में २० उपसर्ग हैं। उनके अनुसार 'निस्' तथा 'निर्' दोनों एक ही हैं तथा 'दुस्' और 'दुर्' भी एक ही हैं। लौकिकसंस्कृत के शेष सभी उपसर्ग वैदिकभाषा में भी यथावत् हैं। लौकिकसंस्कृत में उपसर्ग सदैव क्रियापद के साथ ही रहते हैं। क्रियापद के पर्व

जुड़कर ही प्रादिगण के शब्द उपसर्ग संज्ञा प्राप्त करते हैं। परन्तु वैदिक भाषा में उपसर्ग क्रियापद से दूर भी प्राप्त होते हैं, जैसे—

'प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म' ।– ऋ० १.१५४.३

'प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण' ।– ऋ० १.१५४.१

'तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्' ।– ऋ० १.१५४.५

उपर्युक्त उदाहरणों में 'प्र' उपसर्ग 'एतु' तथा 'स्तवते' क्रियापदों से दूर हैं, एवं 'अभि' उपसर्ग 'अश्याम्' क्रियापद से पृथक् है। इसी प्रकार अन्य भी प्रयोग देखे जाते हैं। इसका कारण यह है कि वैदिक भाषा में उपसर्गों को पृथक् पद मानकर उनकी अर्थवाचकता को स्वीकार किया गया था। यास्क ने भी अपने निरुक्त में उपसर्गों को अर्थवान् माना है।

समास

वैदिक भाषा के समासों में भी कतिपय विशेषताएँ पाई जाती है। जो इस प्रकार हैं—

'हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि (पा० २.४.२८)' लौकिक संस्कृत में समस्त पदों की लिङ्ग-व्यवस्था से सम्बन्धित सूत्र 'परवल्लिङ्गं' द्वन्द्वतत्पुरुषयोः (पा०२.४.२६)' है। जिसके अनुसार द्वन्द्व एवं तत्पुरुष समास में परवर्ती शब्द के लिङ्ग के समान समस्तपद का लिङ्ग होता है, परन्तु वैदिक भाषा में 'हेमन्तशिशिरौ' (हेमन्तश्च शिशिरं च), तथा 'अहोरात्रे' (अहश्च रात्रिश्च), इन दो समस्त पदों में हेमन्त (पुं०) के अनुसार पुल्लिंग तथा अहन् (नपुं०) के अनुसार नपुंसकलिंग है। उक्त लौकिक संस्कृत के नियमानुसार इन समस्त पदों को क्रमशः 'हेमन्तशिशिरे' तथा 'अहोरात्रे' बनना चाहिए। वेद में 'अहोरात्राणि' पद भी मिलता है।

समस्त पदों में भी कभी-कभी दोनों पद किसी एक या अनेक शब्द को बीच में आ जाने से पृथक् हो जाते हैं। जैसे– 'द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते' यहाँ पर 'द्यावा' तथा 'पृथिवी' इन दो पदों के मध्य 'चित्' तथा 'अस्मै' पदों का व्यवधान है।

देवताद्वन्द्व समास में पूर्वपद दीर्घ भी प्राप्त होता है, जैसे– मित्रावरुणौ।

वेद में द्वन्द्व समास में 'पितरामातरा' शब्द निपातन से सिद्ध होता है।

३.११ वैदिक स्वर

'स्वर' वैदिक भाषा की सर्वप्रमुख विशेषता है। मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण एवं सही अर्थज्ञान के लिए भी स्वर की उपादेयता है। कतिपय आरण्यक एवं ब्राह्मण ग्रन्थ भी स्वरों से अङ्कित हैं। पाणिनीय शिक्षा में स्वरों की महत्ता के विषय में स्पष्ट कहा गया है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा।
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।।
स वाग्वज्रः यजमानं हिनस्ति।
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।

अर्थात् स्वर अथवा वर्ण से हीन मन्त्र मिथ्या रूप में प्रयुक्त होने के कारण उस (वास्तविक) अर्थ को नहीं बतलाता है; वह तो वाणीरूपी वज्र बनकर यजमान का ही वध कर डालता है; जैसे स्वर के अपराध के कारण 'इन्द्रशत्रुः' शब्द ने यजमान (वृत्र) का वध कर दिया।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार 'वेंकटमाधव' ने वेदार्थज्ञान में स्वरों की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि—

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणातीनां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति ।।

जिस प्रकार अन्धकार में दीपिकाओं के सहारे चलता हुआ व्यक्ति ठोकरें खाकर गिरता नहीं है, उसी प्रकार स्वरों की सहायता से अर्थ भी पूर्णत: स्पष्ट होते हैं।

३.११.१ स्वरों की संख्या

स्वर मूलत: दो प्रकार के हैं– (१) उदात्त (२) अनुदात्त। उदात्त स्वर किसी भी परिस्थिति में अपरिवर्तनीय ही रहता है परन्तु अनुदात्त स्वर उदात्त के बाद आने पर स्वरित में एवं स्वरित के बाद आने पर 'प्रचयं के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अत: आपातत: स्वर को चार प्रकार का भी होता है। कुछ द्वि-उदात्त पदों को छोड़कर पद में उदात्त एवं स्वरित की संख्या एक-एक ही हो सकती है, जबकि, अनुदात्त और प्रचय अनेक भी होते हैं। ये उदात्तादि स्वर अकारादि स्वर वर्णों के ही धर्म हैं, व्यञ्जन तो अपने अङ्गीभूत स्वर-वर्ण के स्वर (Accent) से सस्वर होते हैं।

३.११.२ उदात्तादि स्वरों का परिचय

उदात्त

वैदिक स्वरों में उदात्त स्वर मुख्य है। यह किसी अन्य स्वर की सन्धि के प्रभाव से परिवर्तित नहीं होता है। प्रातिशाख्यों के विशेष विधान से अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट-सन्धियों में उदात्त स्वर स्वरित रूप में परिवर्तित हो जाता है।

'उद् उच्चैरादीयते उच्चार्यते उदात्त:' अर्थात् जो वर्णस्वर कण्ठताल्वादि पर ऊँचे स्थान से उच्चरित हो उसे उदात्त कहते हैं यह उदात्त शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। उदात्त के लक्षण के लिए उच्चैरुदात: सूत्र उपलब्ध होता है, जिसका तात्पर्य है उच्च ध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर उदात्त कहलाता है।

अनुदात्त

अनुदात्त का शाब्दिक अर्थ है ऊपर न उठाया हुआ। अनुदात्त के लक्षण में 'नीचैरनुदात्त:' एक उपलब्ध है जिसका अर्थ है नीची ध्वनि से उच्चारित होने वाले स्वर को अनुदात्त कहा जाता है। भाष्यकार उवट एवं अनन्त के मतानुसार गात्रों (शरीरा-वयवों) के मार्दव अर्थात् अधोगमन से जो स्वर प्रगट होता है, उसे अनुदात्त कहते हैं।

स्वरित

उदात्त और अनुदात्त इन दोनों के धर्म वाला स्वर स्वरित कहलाता है। समाहार-स्स्वरित: उदात्त का प्रयत्न गात्रों (शरीरावयवों) का ऊर्ध्वगमन है तथा गात्रों (शरीरावयवों) का अधोगमन अनुदात्त का प्रयत्न है। इन दोनों प्रयत्नों के समाहार (मेल) से जो स्वर उच्चरित होता है उसे स्वरित संज्ञक कहते हैं।

३.११.३. स्वरित के भेद

स्वरित स्वर के सात भेद बतलाये गये हैं (१) जात्य (२) अभिनिहित (३) क्षैप्र (४) प्रश्लिष्ट (५) तैरोव्यञ्जन (६) तैरोविराम और (७) पादवृत्त। इन स्वरित-भेदों को मुख्य रूप से तीन वर्गों में रखा जा सकता है। संधिज स्वरित २. असंधिज स्वरित ३. सामान्य स्वरित। इसको निम्नलिखित रेखा-चित्र द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

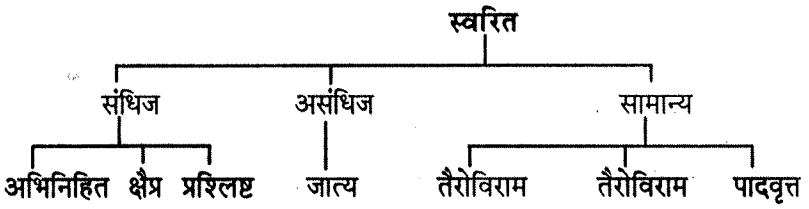

अभिनिहित स्वरित— पदान्तीय एकार तथा ओकार से परे पदादि ह्रस्व अकार का अभि-निहित या पूर्व रूप हो जाता है। अभिनिहित सन्धि के फलस्वरूप निष्पन्न होने वाले स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं। पदान्तीय उदात्त एकार, ओकार से परे पदादि अनुदात्त अकार का लोप होने पर सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं। जैसे— ते + अवन्तु = तेऽवन्तु।

क्षैप्र-स्वरित— पाणिनीय व्याकरण की यण् सन्धि ही प्रातिशाख्यों में क्षैप्र सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। ऋ०प्रा० में सन्धि के अन्तर्गत इस संज्ञा का प्रयोग हुआ है; किन्तु भावि स्वर, इ, उ आदि के सन्धि के परिणामस्वरूप उत्पन्न अन्तस्थ य् व् आदि वर्ण के उच्चारण क्षिप्रता (शीघ्रता) होने के कारण इस सन्धि को क्षैप-सन्धि कहते हैं। इस प्रकार की सन्धि पर जो स्वरित आश्रित होता है, उसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं। उदात्त इकार तथा उकार का यकार तथा वकार होने पर क्षैप्र स्वरित होता है अर्थात् उदात्त धर्मवान् इ या उ असमान स्वर बाद में होने पर जब क्रमश: यकार एवं वकार हो जाता है तब उत्तरवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। इसे ही क्षैप्र स्वरित कहते हैं। जैसे—नु + इन्द्र = न्विन्द्र

प्रश्लिष्ट स्वरित— पाणिनीय व्याकरण की दीर्घ-सन्धि, गुण-सन्धि एवं वृद्धि-सन्धि को प्रातिशाख्यों में प्रश्लिष्ट-सन्धि कहा जाता है। ऋ०प्रा० में प्रश्लिष्ट संज्ञा का प्रयोग किया गया है पदान्त उदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार तथा उत्तर पदादि अनुदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार के प्रश्लेष में प्रश्लिष्ट स्वरित होता है। जैसे— सुचि + इव = सुचीव।

असन्धिज-स्वरित (जात्य)— स्वतंत्र स्वरित के अन्तर्गत असंधिज स्वरित एक भिन्न वर्ग है। इस असन्धिज स्वरित के अन्तर्गत केवल एक स्वरित आता है और वह है जात्य-स्वरित। इसे नित्य स्वरित भी कहा जाता है। एक पद में अनुदात्त पूर्व में होने पर या कोई भी स्वर पूर्व में न होने पर यकार वकार युक्त स्वर स्वरित जात्य स्वरित होता है। उदाहरण— (१) **अनुदात्तपूर्व-कन्या** (२) **अपूर्व-स्वः** (प०पा०) = **स्वः** (सं०पा० १८.६४)।

तैरोव्यञ्जन-स्वरित— नानापद में अथवा एकपद में जहाँ व्यञ्जन का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव के कारण परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है, उस स्वरित को तैरोव्यञ्जन स्वरित कहते हैं। उदाहरण- **देवो वः**।

तैरोविराम-स्वरित— अवग्रहगत मात्राकालिक विराम को तिरोहित मानकर स्वरित हो जाने को तैरोविराम स्वरित कहते हैं। संहितापाठ के एक पद को जब पद-पाठ में अवग्रह के द्वारा दो पद्यों में पृथक् कर दिया जाता है तब उन दो पद्यों के उच्चारणों के मध्य में एक मात्रा काल का व्यवधान होता है। इस व्यवधान के परिणामस्वरूप पूर्व पद्य के अन्तिम उदात्त स्वर के प्रभाव से उत्तर पद्य के प्रथम अनुदात्त स्वरित हो जाता है। जैसे— गोऽपतौ।

पादवृत स्वरित— दो स्वर वर्णों के मध्य कालकृत व्यवधान को विवृति कहा जाता है। इस विवृति का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। जिसे पादवृत्त स्वरित कहा जाता है। उदाहरण— **ध्रुवा**। **असदन्** (प०पा०) = **ध्रुवाऽअसदन्**।

प्रचय— यह स्वर मूल रूप से अनुदात्ता हो जाता है किन्तु पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से परवर्ती एक या अनेक अनुदात्त उदात्त के समान उच्चारित होते हैं, जो प्रचय कहे जाते हैं। जैसे— इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति। यहाँ मे के स्वरित के प्रभाव से परवर्ती सभी अनुदात्त प्रचय हैं।

कम्प— जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट स्वरित से बाद में उदात्त या स्वरित आने पर पूववर्ती स्वरित को परवर्ती अनुदात्त भाग के उच्चारण में कम्पन्न हो जाता है, जिसे कम्प कहा जाता है। जैसे—व्यर्थिनः।

३.११.४. स्वराङ्कन पद्धति

ऋग्वेद संहिता में अनुदात्त स्वर को स्वरवर्ण के नीचे पड़ी रेखा (–) द्वारा एवं स्वरित स्वर को स्वरवर्ण के ऊपर खड़ी रेखा (।) द्वारा अङ्कित किया गया है। उदाहरणार्थ– **'वीर्येण'** पद में **'वी'** का ईकार स्वर अनुदात्त है तथा 'ण' का अकार स्वर स्वरित है; उदात्त एवं प्रचय दोनों ही अनङ्कित होते हैं। पद-पाठ में जब अनङ्कित स्वर के ठीक पूर्व अनुदाताङ्कित स्वर हो अथवा वह अनङ्कित स्वर किसी पद के आदि में अवस्थित हो तो ऐसा स्वर उदात्त होता है। इसी प्रकार एक ही पद में जिस अनङ्कित स्वर के पूर्व निश्चित रूप से स्वरिताङ्कित स्वर हो वह प्रचय कहलाता है। प्रचय स्वर लगातार एक से अधिक भी होते हैं। ऐसी स्थिति में केवल प्रथम प्रचय स्वर के पूर्व ही स्वरित की स्थिति होती है, शेष के पूर्व प्रचय ही होते हैं।

जैसे— 'संमवर्तत' पद में 'स' का अकार स्वरित है एवं उसके बाद आने वाले चार अकार स्वर प्रचय हैं।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद संहिता में जब स्वतंत्र स्वरित के ठीक बाद कोई उदात्त स्वर आ जाय तो वह 'कम्प' कहलाता है तथा उसको १̍ या ३̍ चिह्न से अङ्कित करते हैं। स्वतंत्र स्वरित परं ह्रस्व स्वर होने पर १̍ तथा दीर्घ स्वर होने पर ३̍ चिह्न लगा होता है। जब स्वरित स्वर ह्रस्व होता है तब वह अचिह्नित ही रहता है। जैसे– व्यर्थिनः = व्य १̍ र्थिनः। तथा जब स्वरित स्वर दीर्घ होता है, तब वह अनुदात्त स्वर से चिह्नित होता है। ऋ० प्रा० पर उव्वट–भाष्य के अनुसार ह्रस्व स्वरित में आधी मात्रा उदात्त एवं आधी मात्रा अनुदात्त होती है। अर्थात् स्वरित स्वर के दो बराबर भागों में एक भाग उदात्त और अवशिष्ट एक भाग अनुदात्त होता है, अतः कम्प को ह्रस्वस्वर पर होने पर १̍ से चिह्नित करते हैं। इसी प्रकार दीर्घस्वरित में प्रारम्भ की आधी मात्रा उदात्त तथा अवशिष्ट डेढ़ मात्रा अनुदात्त होती है। अर्थात् ४ बराबर भागों में १ भाग उदात्त तथा ३ भाग अनुदात्त होता है। अतः कम्प दीर्घ स्वर पर होने पर उसे ३ से चिह्नित किया जाता है।

(१) यजुर्वेद की वाजसनेयि-संहिता में स्वराङ्कन पद्धति निम्नलिखित अपवादों को छोड़कर ऋग्वेद संहिता के समान ही है।

(i) अनुदात्त स्वर के ठीक बाद स्वतन्त्र स्वरित होने पर उसके (स्वरित के) नीचे ( ) चिह्न पाया जाता हैं।

(ii) स्वतन्त्र स्वरित के ठीक बाद उदात्त स्वर आने पर उसके (स्वरित के) नीचे (w) चिह्न प्राप्त होता है। दोनों के उदाहरण क्रमशः– **'यातु- धा न्योऽधराची'; नस्त्वा शन्तमवा ॥**

(२) शतपथब्राह्मण की स्वराङ्कन पद्धति ऋ०सं० से पूर्णतः भिन्न है। यहाँ पर उदात्त के नीचे पड़ी रेखा मिलती है तथा अनुदात्त और स्वरित अचिह्नित होते हैं।

(३) तैत्तिरीय संहिता, उसके ब्राह्मण और आरण्यक स्वरांकन में ऋग्वेद संहिता से पूर्णतः समानता रखते हैं, परन्तु स्वरित के बाद उदात्त आने पर होने वाला 'कम्प' स्वर यहाँ नहीं प्राप्त होता हैं।

(४) अथर्ववेदसंहिता की स्वराङ्कनपद्धति पूर्णतः ऋग्वेद सं० की स्वराङ्कन पद्धति जैसी ही है। केवल स्वतंत्र स्वरित को (√) चिह्न द्वारा प्रदर्शित किया गया है, जब इसके पश्चात् कोई अनुदात्त स्वर आता है। जैसे– दिवी √द्यु चक्षुरातंतम्; हिरण्यपाणिषु √क्तुः कृ पात् √स्व।

(५) सामवेदसंहिता की स्वराङ्कनपद्धति ऋग्वेदसंहिता की स्वरांकन पद्धति से पूर्णतः भिन्न है। इसमें स्वरों के ऊपर अङ्कों को निम्नलिखित रूप में दर्शाया गया है—

(i) उदात्त– इसे १ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य^{३}जा^{१}य^{२}जा (जा^{१})।

(ii) अनुदात्त– इसे ३ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य^{३}जा^{१}य^{२}जा (य^{३})।

(iii) स्वरित– इसे २ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य^{३}जा^{१}य^{२}जा (य^{२})।

(iv) प्रचय– अचिह्नित, जैसे– (जा)।

ऊपर दिये गये सामान्य नियमों के कतिपय अपवाद नीचे दिये जा रहे हैं—

(i) जब उदात्त के ठीक बाद कोई अनुदात्त स्वर हो तो उदात्त को '२' से अंकित किया जाता है।

(ii) जब एक या अनेक उदात्त स्वर पादान्त में आते हैं, तब प्रथम उदात्त '२' से अंकित होता है, शेष अचिह्नित ही रहते हैं।

(iii) यदि किसी पद में लगातार दो उदात्त स्वर हो तथा उसके ठीक बाद में एक अनुदात्त स्वर हो तो प्रथम उदात्त को '२उ) से अङ्कित करते हैं तथा द्वितीय उदात्त को अचिह्नित ही छोड़ देते हैं,

उदाहरणार्थ– त्वमित्सप्रथा में (त्व)।

(iv) जब एक उदात्त स्वर के बाद दूसरा उदात्त स्वर आता है तब प्रथम उदात्त को '१र) से प्रदर्शित करते हैं तथा द्वितीय को अनङ्कित छोड़ देते हैं तथा इसके बाद आने वाले स्वरित को '२र) से अङ्कित करते हैं। जैसे– मित्रं न शꣳ शिषम्।

(v) जिस स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त न हो, उसे '२र' से अङ्कित किया जाता है तथा स्वतन्त्रस्वरित के पूर्वस्थित अनुदात्त '३क' से

अङ्कित होता है। जैसे– अभ्येति रैभन्।

(vi) जिस स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त स्वर आता है उसे '२' से अङ्कित करते हैं, तथा वह प्लुत रूप में उच्चरित होता है, जैसे–

दूत्या ^{१२}चरन्।

(vii) जब किसी पद में दो उदात्त स्वरों के मध्य स्वतन्त्र स्वरित आता है तब उसे अनङ्कित ही छोड़ देते हैं। जैसे– विद्धी त्वा३स्य (त्वा३)।

(viii) जब दो या दो से अधिक अनुदात्त स्वर लगातार आवें तथा उनके बाद एक उदात्त स्वर आवे तो प्रथम अनुदात्त को '३' से अङ्कित करते हैं एवं शेष अनुदात्तों को अचिह्नित छोड़ देते हैं। ज^{३}नि- ताग्ने (^{३}जनिता)।

३.१२ सम्बन्धित प्रश्न

(१) निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए-

(क) यम

(ख) स्वरभक्ति

(ग) प्रश्लिष्ट-सन्धि

(घ) क्षैप्र-सन्धि

(ङ) अभिनिहित-सन्धि

(च) वंशगम-सन्धि

(छ) उपचरित-सन्धि

(२) तुमर्थक प्रत्ययों का विवेचन कीजिए?-

(३) वैदिक स्वरों का परिचय दीजिए?

(४) स्वरितस्वर के भेदों का निरूपण कीजिए?

(५) निम्नलिखित सभी प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

(क) एकार का उच्चारणस्थान बताइये?

(ख) समानाक्षर ध्वनियाँ कौन-कौन-सी हैं?

(ग) दन्तमूलीय वर्ण कौन-कौन हैं?

(घ) प्लुतवर्णों के उच्चारण में कितना समय लगता है?